

हिन्दू धर्म की आख्यायिकाएँ

लेखक

आचार्य श्री नृसिंहप्रसाद कालिकाप्रसाद भट्ट

अनुवादक

श्री काशिनाथ त्रिवेदी एवं अशोककुमार

हिन्दी मंदिर, प्रयाग

सितंबर १९४४

मूल्य

एक रुपया

मुद्रक—

देवीप्रसाद शर्मा

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,

नई दिल्ली

विषय-सूची

हिन्दू-धर्म की आख्यायिकाएं

१

सत्यकाम जाबाल

गौतम ऋषि के आश्रम के द्वार पर दस-बारह वर्ष का एक ब्रह्मचारी आया। उसके हाथ में समिध न थी, उसकी कमर में मुंजा न थी, उसके कंधे पर अजिन न था, उसके कण्ठ में उपवीत (जनेऊ) न था।

ब्रह्मचारी गौतम के निकट जाकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और बोला : "महाराज! मैं आपके गुरुकुल में रहने आया हूं। मैं ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहूंगा। मैं आपकी शरण में आया हूं। मुझे स्वीकार कीजिए।"

सीधे-सादे और सरल इस ब्रह्मचारी के ये शब्द गौतम के हृदय में अंकित होगये। ऋषि ने पूछा : "बेटा! तेरा गोत्र क्या है? तेरे पिता का नाम क्या है? अच्छा हुआ, जो तू आया।" गौतम के आसपास बैठे हुए सभी शिष्य ब्रह्मचारी के मुंह की ओर ताक रहे थे। ब्रह्मचारी ने तुरन्त ही जवाब दिया : "गुरुदेव! मुझे अपने गोत्र का पता नहीं, अपने पिता का नाम भी मैं नहीं जानता; मैं अपनी माता से पूछकर आता हूं। किन्तु गुरुदेव! मैं आपकी शरण आया हूं। मैं ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन करूँगा। क्या आप मुझे नहीं स्वीकारेंगे?"

नवागत बालक के मुंह से अभी ये शब्द निकले-ही-निकले थे कि गुरु की शिष्यमंडली में एक दबी-सी हंसी शुरू हो गई।

किसीने कहा : "अरे, यह अपना गोत्र भी नहीं जानता! होगा कोई शूद्र।"

दूसरे ने कहा : "अरे, इसे अपने पिता तक का पता नहीं ! किसी वेश्या का लड़का तो नहीं है ?"

तीसरे ने गुरु के मुँह की ओर देखकर कहा : "गुरुवर्य ! क्या आप इस वर्णसंकर के साथ हमें रखना चाहते हैं ?"

एक काना शिष्य बोला : "अरे भाई, वह तो गुरु की शरण में आया है, शरण में ! न समिध का ठिकाना है, न मुंज का, और न उपवीत का। मालूम होता है, जैसा माँ ने जना वैसा ही यह इधर चला आया है।

नये आये हुए बालक ने यह सब सुना और इसके सिवा भी बहुत कुछ जो शिष्यों की आँखों में और चेहरों पर लिखा हुआ था, पढ़ा। कुछ देर के लिए वह दिङ्मूढ़-सा खड़ा रह गया। यह देख गौतम बोले : "बेटा ! तुम अपने घर जाओ। अपनी माँ से पूछकर आओ।" फिर अपने शिष्यों को संबोधन करके बोले—"जब तक यह बटुक लौटता नहीं है, हम सब इसके बारे में कोई चर्चा न करेंगे।"

× × × ×

साँझ का समय था। ऋषि होम-हवन से निपटकर अपने सारे परिवार के साथ चौक में बैठे थे, इतनेमें वह बटुक फिर आया। गुरु का ध्यान किसी दूसरी तरफ था, अतएव वही काना शिष्य बोला : "गुरुदेव ! देखिए, यह ब्राह्मण-पुत्र फिर आगया है।"

गुरु ने तुरन्त ही बटुक की ओर देखा और कहा : "क्यों बेटा, तुम आगये ? आओ, बैठो ! अपनी माँ से पूछ आये न ?"

बटुक ने जवाब दिया : "जी महाराज, ! माँ ने तो कहा कि वह अपनी जवानी में अनेक साधु-सन्तों की सेवा करती थीं। उन्हीं दिनों मैं उनके गर्भ में रहा था। अतएव उन्हें भी पता नहीं कि मेरे पिता कौन

थे और उनका गोत्र क्या था। हाँ, माँ ने अपना नाम जाबाला बताया है और कहा है कि आचार्य पूछें, तो उनसे यह सब इसी तरह कह देना।"

शिष्यों के दल में खिलखिलाहट मच गई।

एक लंगड़े शिष्य ने कहा : "मैंने तो यह सोच ही रक्खा था।"

दूसरे एक शिष्य ने उस काने के कान में कहा : "साधु-संतों की सेवा के फल इतने सुन्दर निपजते हैं, यह तो आज ही मालूम पड़ा।"

एक तीसरा शिष्य थूकने के लिए उठता-उठता बड़बड़ाया : "तिस पर भाई साहब कहते थे, मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।"

इस प्रकार चारों ओर से ताने-तिस्नों की बौछार हो रही थी कि इस बीच गुरु ने आँख मूँदकर और गहरे उतरकर कुछ सोच लिया। फिर बोले : "बेटा! जिस निडरता के साथ और जैसी निर्दोष रीति से तुमने सारी बातें कही हैं, उससे मुझे तो तुम सत्यकाम मालूम देते हो; तुम्हारे पिता कोई भी क्यों न रहे हों, तुम्हारे आचरण की शुद्धता, तुम्हारे स्वभाव की सरलता बताती है कि तुम ब्राह्मण ही हो, मैं तुम्हें ब्राह्मण प्रमाणित करता हूं। जाबाला के पुत्र सत्यकाम, आओ। आज से मैं तुम्हें अपने शिष्य-मंडल में स्वीकार करता हूं। ब्रह्मचारियो! इस सत्यकाम का उपनयन संस्कार मैं करूंगा। तुम अपने मन में जो चाहो सोचो, पर मैं तो देख रहा हूं कि सद्विद्या को ग्रहण करने की जो योग्यता तुममें वर्षों के गुरुकुलवास से भी अबतक नहीं पैदा हुई, वह मुझे इस सत्यकाम में आज ही मौजूद नजर आती है। कल मैं इसका उपनयन संस्कार करूंगा और तुम्हारी आचार्य-पत्नी इसे मुंजा बांधेंगी।"

गुरु का यह निर्णय सुनकर शिष्य सब चकित रह गये। वे सब अपने मन को किसी तरह समझाते हुए, मन-ही-मन झींखते हुए, काना-फूसी करते हुए, अभी-अभी जो बातें हुई उनको याद कर करके दाँत

किटकिटाते हुए, और बीच-बीच में लंगड़े और काने की विनोदभरी चुटीली बातें सुनते हुए अपने-अपने काम पर चले गये।

× × × ×

एक दिन सबेरे प्रातर्होम समाप्त करने के बाद आचार्य ने सत्यकाम से कहा : "सत्यकाम! आज से तुम्हें आश्रम से दूर वन में रहना होगा।"

सत्यकाम प्रसन्नतापूर्वक बोला : "गुरुदेव! आप मुझे जहाँ रहने को कहेंगे, वहीं मेरा आश्रम होगा। आज आप इस भूमि के आचार्य हैं, इसलिए यह आश्रम कहलाती है। वैसे भूमि क्या यहां की और क्या और जगह की, सब सरीखी है।

"मैंने तय किया है कि तुम्हें ये चार सौ गायें सौंप दूँ : दुबली-पतली मरियल गायें। इन गायों को लेकर तुम यहां से चलदो। जिस दिन इन चारसौ की हजार कर पाओ, उस दिन आश्रम में वापस आ-जाना। बोलो, तैयार हो?"

सत्यकाम ने कहा : "महाराज! आपको इतना पूछना पड़ता है, इसीको मैं तो अपना बड़ा दुर्भाग्य मानता हूँ। मुझे सब कुछ शिरोधार्य है। मैं यह चला।" इतना कहकर सत्यकाम ने गुरु के चरणों में नमस्कार किया और गुरु गौतम वहाँ से चल दिये।

एक शिष्य ने कहा : "बेवक़ूफ़, मर जायगा मर! इन मरियल गायों को सँभालना सहल नहीं है।"

दूसरा बोला : "सत्यकाम! हमें यहाँ आये आज बारह वर्ष हो चुके हैं। एक समय था, जब गुरुजी हमें भी गायें चराने का काम सौंपते थे, मगर हम अपनी बहानेबाजी से बच जाया करते थे। तबसे उन्होंने हमारा नाम ही लेना छोड़ दिया। बात यह है कि जहां हम दबे नहीं कि गुरुजी हमपर सवार हुए नहीं।"

काना कहने लगा : "अजी जाने भी दो; मारो गोली ! किसीको गुरुजी की नाक का बाल बनने की सूझे तो बने, हमारी बला से। अच्छा भाई, अच्छा ! तुम अपने मौज से जाओ ! जब चार सौ की एक हजार गायें करके आओगे, तो हम भी खुश होंगे और भरपेट दूध पीयेंगे।"

लंगड़ा बोला : "कुछ समझते भी हो, भलेमानस ! तुम वेदों को रट-रटकर मर जाओगे, तो भी गुरुजी तुम्हें ज्ञान की दीक्षा न देंगे। और मैं देख रहा हूं कि यह सत्यकाम गायें चराकर भी दीक्षा पा लेगा। इसे वहां न रटाई करनी होगी; न स्वर की उदात्त या अनुदात्त की झंझट रहेगी; न आचार्य के प्रवचन सुनने पड़ेंगे, और न रोज सुबह अग्नि में समिध होमनी होगी। यह तो पट्ठा जंगल में गायों को खुली छोड़कर किसी पेड़ पर चढ़ जायगा और वहां बैठा-बैठा गीत गाता रहेगा। जब भूख लगेगी, दौड़कर किसी गाय के आंचल से चिपक जायगा। हम तुम बेवकूफ हैं, जो वेद पढ़ने के लिए यहां पड़े हुए हैं। आचार्य से कहो न कि वे हमें भी गायें चराने भेज दें ? जंगल में जो दो-चार दिन बीतेंगे, वही गनीमत होंगे। अगर वहां पटरी ठीक से न बैठी, शेर ने एकाध गाय को मार डाला, तो रोते-पीटते वापस आजायंगे; गुरु जी हमें सांत्वना देदेंगे और गुरुपत्नी अच्छा-अच्छा खाने को देंगी। बोलो है विचार ? अगर भगवान् ने मुझे अच्छे-भले पैर दिये होते, तो सच कहता हूं, मैं सत्यकाम के साथ ही चल दिया होता।"

सत्यकाम ने कहा : "भैया, तुम जरूर चलो; मुझे बड़ी खुशी होगी। जहां तुम थक जाओगे, वहीं हम टिक जायेंगे और आहिस्ते-आहिस्ते आगे बढ़ेंगे।"

लंगड़े ने कहा : "बात तो ठीक है, पर मुझसे चला नहीं जायगा। अपने राम तो यहीं भले हैं।"

सत्यकाम गोशाला से चार सौ गायें और साथ में एक सांड लेकर चल दिया। चलते समय उसने आश्रम के समूचे शिष्यमंडल को प्रणाम किया और गद्गद स्वर से बोला : "भला आप सबको छोड़कर जाने की इच्छा क्योंकर हो? आप सब पुराने आश्रमवासी हैं। मैं तो अभी कल का हूं। आप मुझे चिढ़ाते हैं तब भी भले ही लगते हैं। मैं तो निरा गँवार हूँ। गुरुजी के आशीर्वाद से थोड़ा आदमी बनने लगा हूँ। अपनी अनुपस्थिति में मुझे अपने कुल पिता की चिन्ता रहेगी।" लँगड़े की ओर देखकर : "भैया, तुम नहीं जानते कि तुम्हारी बातों से गुरुजी का चित्त कितना खिन्न होता है। मेरे लौटने तक अपनी तीखी बातें मेरे लिए ही सुरक्षित रखना।"

लँगड़ा गरज उठा : "हाँ रे, गुरुजी अकेले तेरे ही तो हैं। मानो हमारे तो वे कोई होते ही नहीं। तू नहीं था, तब गुरुजी को कौन सँभालता था? जानता है, हम लोग जब तक आचार्य को खरी-खरी नहीं सुनाते, वे जमीन पर पैर ही नहीं रखते। तू खूब है, जो तुझे हम सबकी इतनी चिन्ता हो रही है! भाई, तू अपने काम पर जा। हम सब आपस में निपट लेंगे।"

सत्यकाम ने कहा : "भाई, तुम मुझे समझे नहीं! खैर! तुम सब मुझ पर अपनी ममता बनाये रखना और जब आचार्य के दर्शन करना, उनकी सेवा में मेरा भी प्रणाम कह देना। मुझे याद करते रहना।"

काना बोला : "तू तो दिन में पचासों बार याद आयेगा। तुझे कौन भूल सकता है?"

सत्यकाम ने हाथ जोड़कर कहा : "मित्रो! अब मुझे इजाजत दो, मैं जाता हूं।"

लंगड़े ने कहा : "सत्यकाम, तू जा ! देख, यह छोटी बछिया ज़रा लँगड़ाती है। इसे उठाकर ले जाना भला।"

"आओ, अब हम वापस चलें। जब सत्यकाम हजार गायें लेकर लौटेगा, हमें उसकी अगवानी के लिए भी तो जाना पड़ेगा न ?"

× × × ×

सत्यकाम चल दिया : हाथ में एक लट्ठ था, कंधे पर झोल और कमंडल था, पीछे चार सौ दुर्बल गायें थीं। कभी वह आगे चलता, कभी बीच में चलता, कभी पीछे चलता। कभी गायों को हांकता चलता; कभी उनपर हाथ फेरता, कभी पुचकारता; जहाँ रास्ते में कुँआ मिलता, उन्हें पानी पिलाता चलता; जहाँ हरियाली मिलती चराता चलता। चलते-चलते वह एक घने हरे भरे प्रदेश में पहुंचा और सुन्दर स्थान देखकर वहीं टिक गया। वहां दूर-दूर तक गायों के लिए हरी-हरी घास मौजूद थी; जहाँ तहाँ पानी भी खूब था; आसपास का रमणीय सृष्टि-सौंदर्य देखते ही बनता था। सत्यकाम ने अपने मुकाम के लिए इसी स्थान को पसन्द किया और गुरु ने जिनकी उपासना का काम उसे सौंपा था उनकी उपासना शुरू करदी।

एक रात बीती, दो रातें बीतीं, हफ्ता बीता, पखवाड़ा बीता, महीना बीता, साल बीता, और फिर तो साल पर साल बीतते चले गये। अरण्य में सत्यकाम ने अपना एक नन्हा-सा गुरुकुल ही बसा लिया। रोज सुबह आश्रम के वेदोच्चार को भी लजानेवाला हर्षोच्चार उसकी गोशाला में गूँजने लगा; रोज सवेरे आचार्य के प्रातर्होम की बराबरी करनेवाली गायों को पानी पिलाने की विधि सत्यकाम अपने हाथों करता; प्रतिदिन आचार्य-पत्नी की-सी ममता से सत्यकाम सब गायों को चराता; बीमार गायों को अपने हाथों चारा खिलाता; प्रतिदिन समूची दुनिया के श्रोताओं को लजानेवाली

शान्ति से गायें बैठकर जुगाली करतीं; प्रतिदिन रात में सत्यकाम सिंह और बाघ से गायों की रक्षा ऐसे करता, मानो गुरु की अग्नि की रक्षा राक्षसों से कर रहा हो। और यह सब वह किस लिए करता था? गुरु की आज्ञा का पालन करने के लिए। सत्यकाम की दृष्टि में ये गायें चार पैर और चार आँचल वाली गायें मात्र न थीं; वह तो इनमें वेदों के दर्शन करता था और कभी-कभी किसी गाय को सहलाते-सहलाते या खिलाते-खिलाते ऐसा समाधिस्थ हो जाता कि घंटों अपनी देह की सुध-बुध भूले रहता।

इस तरह बरसों बीत गये। एक दिन एक बैल को मानव की बोली प्राप्त हुई। उसने सत्यकाम से कहा : "सत्यकाम!"

सत्यकाम अचानक बोल उठा : "भगवन्!" और ज्योंही सजग होकर उसने अपने आसपास देखा, उसे एक बैल बोलता सुनाई पड़ा। बैल ने कहा : "अब हम हजार हो चुके हैं। हमें आचार्य के पास ले चल तू ज्ञान का अधिकारी बन चुका है; अतः मेरी ओर देख, मैं तुझे ज्ञान की कुछ बातें कहूंगा।"

यों कहकर बैल ने सत्यकाम को थोड़ा ज्ञानोपदेश किया और कहा : "बस, आगे का उपदेश अग्निदेव तुझे करेंगे।" इतना कहकर बैल चुप हो गया।

दूसरे दिन सत्यकाम गायों को लेकर गुरुकुल की ओर रवाना होगया। रास्ते में जहां शाम पड़ी, वहीं उसने डेरा डाल दिया और गायों को एकत्र करके अग्नि में होम करने बैठा। इतने में अग्निनारायण प्रकट हुए। उन्होंने कहा : "सत्यकाम!"

"भगवन्!"

"तेरा अधिकार परिपक्व होचुका है। मैं तुझे थोड़ा ज्ञानोपदेश करूँगा।" यों कहकर अग्नि ने उसे थोड़ा उपदेश दिया और कहा :

"कल हंस तुझे अधिक उपदेश देंगे।" इतना कहकर अग्निनारायण अन्तर्द्धान होगये।

तीसरे दिन नित्यकर्म से निवृत्त होकर सत्यकाम आगे बढ़ा। जहां सांझ हुई, वहाँ फिर डेरा डाला। सब काम से निवृत्त होकर वह बैठा अग्नि के उपदेश पर विचार कर रहा था कि इतने में एक हंस उड़कर उसके पास आया और बोला : "सत्यकाम !"

"भगवन् !"

हंस ने कहा : "मैं भी तुझे थोड़ा ज्ञान दूँगा। तेरा अंतःकरण तैयार हो चुका है।" यों कहकर हंस ने सत्यकाम को थोड़ा उपदेश दिया और अन्त में कहा : "कल एक जलमुर्गी भी तुझे उपदेश देगी।"

चौथे दिन सत्यकाम फिर आगे बढ़ा। सांझ पड़ते ही फिर पड़ाव डाला। वह अग्निहोम के लिए बैठा ही था कि इतने में एक जलमुर्गी उसके पास आकर बोली : "सत्यकाम !"

"भगवति !"

"मैं भी तुझे थोड़ा ज्ञान दूँगी। तू उसे स्वीकार कर।" यों कह जलमुर्गी ने सत्यकाम को ज्ञानोपदेश किया और चली गई।

यों चलते-चलते आखिर एक दिन सत्यकाम अपने गुरुकुल में जा पहुँचा। सत्यकाम को और उसके पीछे-पीछे चलनेवाली मोटी-ताज़ी एक हज़ार गायों के झुण्ड को आश्रम की ओर आता देखकर सभी आश्रम-वासी आचार्य की पर्णकुटी के पास एकत्र हो गये।

आचार्य ने कहा : "सत्यकाम !"

सत्यकाम ने जाकर गुरु के चरणों में प्रणाम किया; गुरुपत्नी के चरण छुए, और गायों को गोशाला की ओर रवाना करके स्वयं गुरु के समीप बैठ गया।

उसकी इन्द्रियाँ प्रसन्न थीं, उसका चेहरा खिला हुआ था, उसका मन क्लेश-रहित प्रतीत होता था, उसके समूचे शरीर से, अंग-अंग से जीवन की कृतार्थता का एक अद्भुत-सा तेज जगमगा रहा था। सत्यकाम को देखकर आचार्य ने कहा : "सत्यकाम ! तू तो महाज्ञानी-सा दीखता है। तूने किसी अन्य गुरु से ज्ञान की दीक्षा तो नहीं प्राप्त की ?"

वह काना शिष्य अपने मित्र के कान में कहने लगा : "गुरुजी ने ठीक पकड़ा ! देखा, कैसी शान से बैठा है, मानो स्वयं ही आचार्य हो ! ज़रा इसके मुँह की ओर तो देखो। पहलेवाला सत्यकाम ही नहीं लगता।"

सत्यकाम बोला : "गुरुदेव ! मुझे ऐसे प्राणियों ने उपदेश दिया है जो मनुष्यों की गिनती में नहीं आते। किन्तु महाराज ! सत्यकाम तो आप ही का शिष्य है। आपको छोड़ मेरा दूसरा कोई गुरु नहीं। जबतक आप मुझे उपदेश न करेंगे, मैं अपनेको कृतार्थ न मानूँगा।"

सत्यकाम के इन वचनों को सुनकर आचार्य ने कहा : "धन्य है, बेटा ! तू धन्य है ! शिष्यो ! मैं जानता हूँ कि सत्यकाम को बैल, अग्नि, हंस और जलमुर्गी ने उपदेश किया है। आज से वर्षों पहले जब सत्यकाम गायों के साथ आश्रम से गया था, तुमने क्या-क्या सोचा और कहा था, सो तनिक याद करलो। यह भी सोचो कि जब मैंने इसे शिष्य के रूप में स्वीकार किया था, तब तुम मेरे पास आकर क्या-क्या कह जाते थे। मुझे याद है कि तुम में से किसीने इसे वेश्या पुत्र तक कह डाला था। आज वही सत्यकाम ज्ञानी बनकर लौटा है। तुम्हें अपने ब्रह्मत्व का अभिमान है, अपनी शक्ति का अभिमान है, अपने वेदज्ञान का अभिमान है, इसीलिए तुम यहां पड़े हुए हो। तुममें से कोई वेद पढ़ता है; कोई उपवेद पढ़ता है; कोई शिक्षा के अध्ययन में लगा है; और कोई व्याकरण में व्यस्त है। सत्यकाम को न मैंने वेद पढ़ाये, न उपवेद पढ़ाये,

न शिक्षा पढ़ाई, न निबन्ध पढ़ाया; मैंने उसे जीवन को गुनने भेज दिया। आज जब जीवन की उस विद्या में पारंगत होकर सत्यकाम वापस आ पहुँचा है, तुम अभी अपने वेदों और उपवेदों से ही छुट्टी नहीं पा सके हो और इस जीवन में कदाचित् पा भी न सको। तुम अपनी विद्या के गोरखधन्धे में ऐसे उलझे हो कि मंत्रों और अक्षरों के बाहर जो सच्चा जीवन प्रवाहित है, उस ओर देखने का विचार तक तुम्हारे हृदय में पैदा नहीं होगा। मैं तुमसे क्या कहूं? ये वेद आदि तो सब बाह्य विद्याएं हैं; यदि ये सच्ची विद्या की प्राप्ति में सहायक होती हैं तो अच्छी हैं, अन्यथा सच मानो कि यह सब बोझ ही बोझ है। सच्चा जीवन इन सबसे परे की कोई चीज़ है। सत्यकाम ने उस चीज़ को पा लिया है; अगर तुम चाहोगे तो वह अपनी सारी बात अथ से इति तक तुम्हें सुनायेगा। वेदों से भी जो वस्तु प्राय: नहीं मिलती, जीवन के रहस्य का उद्घाटन करनेवाली वह वस्तु इस तरह की चर्चा में से मिल जाती है। मैं तो इससे भी अधिक तुम्हें कहना चाहता हूँ। जानते हो, जिन वेदों का तुम अभ्यास करते हो, वे वेद हैं क्या चीज़? सत्यकाम के समान पुरुष जब जीवन के रहस्य को पा जाते हैं, तो उनकी वाणी ही वेद बन जाती है। इसलिए हमारे ऋषि-मुनि कह गये हैं कि वेद अनंत हैं। तुम अपने समीप बैठे हुए इस जीते-जागते वेद को भूलकर अपने रटे हुए वेदों से चिपके न रहना। बेटा, सत्यकाम! आओ, मैं तुम्हें ज्ञान की अन्तिम दीक्षा दूँ। इसके बाद तुम्हीं इस गुरुकुल के आचार्य हो! मेरे दिन तो अब बीत चुके हैं। मुझे जाने दो।"

यों कह गुरु ने सत्यकाम को अन्तिम दीक्षा दी और सारा आश्रम उसीके सुपुर्द करके स्वयं चले गये।

२

नचिकेता

प्राचीन काल में वाजश्रवा नाम का एक मुनि था। एक बार वाजश्रवा ने सर्वमेध नामक यज्ञ किया। सर्वमेध यज्ञ का एक नियम यह है कि यजमान अपना सब कुछ यज्ञनारायण को समर्पित कर देता है। शास्त्रों में कहा गया है कि जो सच्चे दिल से सर्वमेध यज्ञ करता है वह मृत्यु को भी जीत लेता है : मृत्युञ्जय बन जाता है।

वाजश्रवा ने पूर्णाहुति के दिन यज्ञ-कुण्ड में नारियल की अन्तिम आहुति डाली और फिर ब्राह्मणों को दक्षिणा देनी शुरू की। वाजश्रवा की सम्पत्ति में गायें मुख्य थीं। वह ब्राह्मणों को दक्षिणा में गायें देने लगा। लेकिन इसी बीच वाजश्रवा के मन में एक विचार आया : "सब गायें दे डालने पर मेरे पास कुछ भी न रह जायगा।" बस, इस एक विचार ने उसे घबड़ाहट में डाल दिया। जिस समय उसने सर्वमेध यज्ञ का संकल्प किया था, और यज्ञ की दीक्षा ली थी, उस समय भी यह बात उसके ध्यान में तो थी ही; किन्तु आज जब वह अपने हाथों दान करने बैठा, तो सर्वस्व त्याग की कठोरता मूर्तिमान हो उठी; मन उसका विचलित हो उठा। फलतः वाजश्रवा ने बड़ी चालाकी से काम लिया। किसीको कानोंकान पता न चलने दिया। अच्छी-अच्छी गायें पीछे रख छोड़ीं; और बूढ़ी-बूढ़ी गायों को दक्षिणा में देना शुरू किया। इन बूढ़ी गायों का कोई क्या वर्णन करे? दक्षिणा के लिए छाँट-छाँटकर चुनी हुई ये गायें इतनी बूढ़ी हो चुकी थीं कि न तो किसीमें दूध देने की ही

ताक़त रह गई थी, न किसीमें फिर से एक बार चारा चरने की ही शक्ति बची थी, और न एक बार पानी पीने की हिम्मत थी। जब वाजश्रवा इन जीवन्मृत गायों को एक के बाद एक दान में देने लगा तो यह सब देखकर नचिकेता को आन्तरिक दुःख हुआ।

नचिकेता वाजश्रवा का एकलौता पुत्र था। उसकी उम्र इस समय आठ-नौ साल की रही होगी। नचिकेता सोच में पड़ गया : "यह सर्वमेध यज्ञ है या वृद्धमेध यज्ञ? पिताजी इन बूढ़ी गायों को देकर इस समूचे यज्ञ को क्यों निष्फल बना रहे हैं? आदमी आदमी को तो धोखा देता ही है; पर क्या वह यज्ञनारायण को भी धोखा दे सकता है? पिताजी का यह समर्पण चित्रगुप्त के बहीखातों में किस भांति जमा होगा? पिताजी यह सब मेरे लिए तो नहीं कर रहे हैं? क्या मेरे स्वार्थ के लिए वे सर्वमेध यज्ञ के फल का भी परित्याग करने बैठे हैं? इस अवसर पर पुत्र के नाते मेरा धर्म क्या हो सकता है? क्या मैं स्वयं अपने दान द्वारा पिताजी को इस अकल्याण से परावृत नहीं कर सकता?"

एक ओर नचिकेता विचारों के इस भँवर में गोते लगा रहा था और दूसरी ओर दान में बूढ़ी-बूढ़ी गायें देकर व अच्छी-अच्छी अपने लिए रखकर वाजश्रवा ब्राह्मणों को बिदा कर रहा था। नचिकेता स्वस्थ न रह सका। वह तुरन्त ही वाजश्रवा के पास दौड़ा गया और बोला : "पिताजी! ये सब गायें तो आपने ब्राह्मणों को दे डालीं, अब मुझे किसे दीजिएगा?"

नचिकेता ने एक बार कहा, दो बार कहा, तीन बार कहा। इसपर वाजश्रवा ने आंखें तरेरकर नचिकेता की ओर देखा, और चोट खाये हुए नाग की भांति भौंहें चढ़ाकर बोल उठे : "चुप रह। छोटे मुँह बड़ी बातें न कर। मैं तुझे यमराज को दूँगा।"

मुनि के मुँह से तीर छूट तो गया; पर तुरन्त ही उन्हें मन ही मन बड़ा पश्चात्ताप हुआ। किन्तु किसी तरह उन्होंने अपने मन को समझा लिया और शान्त हो रहे। इस बीच कुमार नचिकेता ने यमराज के घर जाने की तैयारी कर डाली।

यह देख वाजश्रवा ने गद्‌गद् कण्ठ से पूछा : "बेटा, तू कहाँ जा रहा है? मेरी बात का खयाल न कर! मैं वैसे ही कुछ बोल गया था। भले मानस, इस तरह कोई यमराज के घर जाता भी है?"

लेकिन ब्रह्मा ने कुमार को कच्ची मिट्टी का नहीं बनाया था। वह बोला : "पिताजी! हमारी इक्कीस पीढ़ियों में आजतक किसीने अपना वचन भंग नहीं किया है। हम यह भी नहीं चाहते कि हमारी आनेवाली इक्कीस पीढ़ियों में कोई अपने वचन का भंग करे। अतः आप भी अपनी बात को मिथ्या न कीजिए और मुझे जाने की अनुमति दीजिए।"

वाजश्रवा ने नचिकेता को खींचकर छाती से लगा लिया और बोला, "बेटा! मैं तो यमराज के विचार मात्र से भयभीत हो उठता हूँ। तुम उसके पास क्योंकर जा सकोगे? जिसके नाम-मात्र से लोग काँपते हैं, मृत्यु के वह देव तुम्हारे समान सुकुमार बालक को कितने भयावने दीखेंगे? बेटा! मैंने कहा हो, चाहे न कहा हो, पर मैं तुम्हें यमराज के पास नहीं भेज सकता।"

कुमार ने पिता के भयभीत मुँह की ओर टक लगाते हुए कहा : "पिताजी! आप यह क्या कहते हैं? भला यमराज से कोई क्यों डरे? मैं तो बिलकुल नहीं डरता। लोग अपने हृद्‌गत पापों के कारण उनसे डरते हैं; और अपने डर का आरोपण यमराज के माथे करते हैं। पिता जी! आप यमराज से नहीं डरते, बल्कि अपने पाप से डरते हैं। आपने संकल्प एक किया और काम कुछ दूसरा ही किया, इसका आपको डर

है। यमराज जिस प्रकार मृत्यु के देवता हैं, उसी प्रकार वह जीवन के देवता भी हैं। आप ही न उस दिन कहते थे कि अंधकार भी प्रकाश का ही एक रूप है। इसी प्रकार मृत्यु भी जीवन ही का एक रूप क्यों न हो? यमराज की कल्पना जितनी भयंकर है, उससे कहीं भयंकर मनुष्य का असत्य है। मेरी ममता के कारण आप आज अपना वचन भंग करने बैठे हैं, यह क्या कोई कम भयंकर बात है? आप शान्त होइए और मुझे प्रसन्न मन से बिदा कीजिए। आपने दक्षिणा देने में जो न्यूनता रक्खी है उसकी पूर्ति मैं आत्मार्पण से करना चाहता हूँ। आपके पुत्र के नाते मुझे भी यह अधिकार है कि मैं सर्वमेध यज्ञ में आपका सर्वस्व समर्पित होते देखूँ। पिताजी! दुखी न होइए। मैं संभव हुआ तो जीकर अन्यथा मरकर भी आपके यज्ञ को सार्थक बनाना चाहता हूँ।"

इतना कहकर नचिकेता ने वाजश्रवा के चरण छुए और वहाँसे चल दिया। उसके हाथ में एक दण्ड था। कमर में एक लँगोटी थी। जीवन मरण के पर्वत पर चढ़कर सारे संसार का सिंहावलोकन करने की इच्छावाले किसी यात्री की भाँति मुनिकुमार चल दिया: चलते-चलते वह बहुत दूर निकल गया; कुछ देर तक उसकी छोटी-सी मूर्ति दिखाई दी, फिर धुँधली हुई, फिर अदृश्य हो गई!

× × ×

यमराज का घर दूर होते हुए भी निकट और निकट रहते हुए भी दूर था। जिस समय नचिकेता वहाँ पहुँचा, यमराज कहीं बाहर गये हुए थे, इसलिए नचिकेता को उनके घर के बाहर ही डेरा डालना पड़ा। तीन रात और तीन दिन बीतने पर जब यमराज लौटे तो देखा कि चबूतरे पर एक ब्राह्मण कुमार लेटा हुआ है।

यमराज ने पूछा: "कुमार! तुम कौन हो? यहां किसलिए आये हो?"

कुमार ने नम्रतापूर्वक कहा : "यमदेव ! मैं वाजश्रवा नामक मुनि का पुत्र हूँ। मेरा नाम नचिकेता है। मेरे पिताजी ने सर्वमेध यज्ञ किया था। मेरे आग्रह से उन्होंने उस यज्ञ की दक्षिणा में मुझे आपके सुपुर्द किया है।"

यमराज ने पूछा : "दक्षिणा में कुमार ? और सो भी मुझको ? यमराज को ? नचिकेता ! मेरा नाम सुनकर तुम डरे नहीं ? भयभीत नहीं हुए ?"

कुमार ने कहा : "नहीं महाराज ! हम बालक भय को जानते ही नहीं। लेकिन बड़े-बूढ़े हमें भयभीत होना सिखाते हैं। मैंने भी आपके भयावने रूप के बारे में बहुत कुछ सुन रक्खा था, लेकिन आज मुझे तो आपका यह रूप तनिक भी भयावना नहीं मालूम होता। आपकी अनुपस्थिति में मैंने आपके सम्बन्ध में बहुत कुछ जान लिया है। लोग मृत्यु से व्यर्थ ही डरते हैं। मृत्यु मानवों पर आपका एक उपकार है। भूखा होने पर जो मनुष्य को भोजन देता है, वह उसपर उपकार करता है; प्यासा होने पर जो उसे पानी पिलाता है, वह भी उसपर उपकार करता है; थक कर लोथ-पोथ होजाने पर जो उसे आश्रय देता है, वह भी मनुष्य पर उपकार ही करता है। तो फिर जिस क्षण आदमी जीवन से ऊब जाता है, उस क्षण उसे मौत देनेवाले का क्या उसपर कोई कम उपकार है ? मौत संतप्त आत्मा को शान्ति देती है। यही कारण है कि राक्षसों ने न मरने के अनेक वरदान माँगे, तो भी कृपालु परमात्मा ने उनसे मृत्यु का यह सुख कभी छीना नहीं। जिस दिन सारे संसार का नियन्त्रण करनेवाली सत्ता संसार के एक भी आदमी को मृत्यु से सदा के लिए मुक्त करेगी, उस दिन यह दुनिया मनुष्यों के बसनेलायक न रह जायगी।"

इसपर यमराज ने फिर पूछा : "किंतु कुमार ! तुम यहां आये किस लिए हो।"

कुमार ने कहा : "यहाँ न आऊँ, तो जाऊँ कहाँ ? मुझे तो अपने पिता को यज्ञ के पाखण्ड से बचाना था, उन्हें अपनी ममता से मुक्त करना था, असत्य से उनकी रक्षा करनी थी; अतएव मेरे लिए कोई मार्ग ही न था। आप कृपापूर्वक मुझे ग्रहण कीजिए, जिससे मेरे पिता का कल्याण हो। ब्राह्मणों को दक्षिणा में जो गायें उन्होंने दी थीं, वे तो बेचारी कभी की मर चुकी होंगी, और उनको ठिकाने लगाने का खर्च बेचारे ब्राह्मणों को अपनी गाँठ से देना पड़ा होगा ! मेरी प्रार्थना यही है कि मैं इस प्रकार आपके लिए बोझ न बनूँ।"

कुमार नचिकेता की इन बातों को सुनकर यमराज बहुत प्रसन्न हुए और बोले : "कुमार, तुम बोझ नहीं बनोगे; उलटे मेरा बोझ हलका करोगे ! तुम्हारी वाणी में मिठास है, तुम्हारे हृदय में कोमलता है, तुम्हारे स्वभाव में ऋजुता (सरलता) है, और तुम्हारी आँखों में दृढ़ता है। कुमार ! सच कहूं ? तुम ब्राह्मणपुत्र हो। मुझे दुःख है कि तुम्हारे समान ब्राह्मणपुत्र को तीन-तीन रात खुले में बिना ओढ़े, बिना बिछाये चबूतरे, पर रहना पड़ा। अपने इस दुःख को कम करने के लिए मैं तुम्हें तीन वर देता हूं; तुम जो चाहो, मांग लो बेटा ! तुम्हारे मुंह से फूल झड़ते हैं। बोलो, मांगो; मुझे कृतार्थ करो।"

जब यमराज ने कुमार नचिकेता से यह बात कही, तो कुमार कुछ क्षण के लिए विचार में पड़ गया। फिर बोला : "प्रभो ! मैं तो आपकी दक्षिणा हूं। यह आपकी महानता है, जो मुझे वर देते हैं। जहां लोग आपके नाममात्र से भयभीत होते हैं, वहां आप मुझे वर देते हैं, इससे बढ़कर अहोभाग्य और क्या हो सकता है ? महाराज ! जबसे मैं आपकी

सेवा में आने को घर से चला हूं मेरे पिताजी पागल-से हो उठे हैं। मेरे इधर चले आने से उनकी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया है ! आशीर्वाद दीजिए कि मेरे पिता पुन स्वस्थ हों, और मेरे विषय की उनकी चिन्ताएं मिट जायं ! यह मेरा पहला वर है।"

यमराज ने कहा : "तथास्तु ! तुम्हारे पिता तुम्हारे संबंध की सब चिन्ताओं से मुक्त होजायंगे। अब तुम दूसरा वर माँगो।"

कुमार ने फिर कहा : "महाराज ! आप स्वर्गप्राप्ति की विद्या जानते हैं। ऐसी कृपा कीजिए जिससे मुझे वह विद्या प्राप्त हो सके। यह मेरा दूसरा वर है।"

यमराज बोले : "तथास्तु ! तुम्हें स्वर्गविद्या अपने आप प्राप्त होगी। अब तीसरा वर मांगो। तुम्हारी बातें इतनी मीठी होती हैं कि मन उनसे कभी अघाता ही नहीं।"

तुरंत ही कुमार ने कहा : "महाराज ! जिस प्रकार आप अग्निविद्या के श्रेष्ठ उपासक हैं, उसी प्रकार आप जीवनविद्या के भी आचार्य हैं। अतः आप मुझे जीवनविद्या प्रदान कीजिए। यह मेरा तीसरा और अंतिम वर है।"

कुमार की इस माँग को सुनकर यमराज क्षणभर के लिए स्तब्ध रह गये। अंत में गंभीर स्वर से बोले : "कुमार ! तुम जिस आत्मविद्या की कहते हो, वह तो देवों के लिए भी दुर्लभ है। तुम जानते हो कि मैं स्वयं भी मृत्यु का देव हूं, जीवन का नहीं। अतएव तुम कोई दूसरा वर माँगो। यह वर तुम्हारे किसी काम का नहीं।"

कुमार सहज में डिगनेवाला न था। उसने दृढ़तापूर्वक कहा : "यदि जीवनविद्या देवों के लिए भी दुर्लभ है, तब तो सचमुच सब प्रकार के कष्ट सहकर भी पाने योग्य कुछ है तो वही है। आप मृत्यु के देव हैं, इसीलिए

तो जीवन के भी देव हैं। इस विद्या को सिखानेवाले आपके समान दूसरे आचार्य मुझे और कहां मिलेंगे? यमराज! मेरा वर तो यही रहेगा।"

यमराज ने पुनः नचिकेता को उसके निश्चय से डिगाने का यत्न करते हुए कहा: "बेटा नचिकेता! तुम भूलते हो। यदि तुम चाहो, तो तुम्हें इस संसार के और स्वर्ग एवं अंतरिक्ष के सभी भोग विलास देने को तैयार हूं; तुम चाहो, तो तुम्हें तुम्हारी इच्छानुसार लंबी-से-लंबी उमर देने को तैयार हूं; तुम चाहो, तो तुम्हें सारी पृथ्वी का राज्य देने को तैयार हूं; तुम चाहो, तो तुम्हें मन चाहे रथ, घोड़े, हाथी, बाग-बगीचे, महल, नौकर, चाकर, स्त्री, दास दासी, सभी कुछ देने को तैयार हूं; मृत्युलोक में और स्वर्गलोक में भोग विलास की जितनी भी सामग्री प्रस्तुत है, सो सभी मैं तुम्हारी सेवामें उपस्थित कर सकता हूँ। लेकिन यह वर तुम न माँगो। मुझसे इस तरह का वर माँगना तुम्हारे लिए उचित नहीं।"

कुमार ने यमराज के इन वचनों को अतिशय धैर्यपूर्वक सुना; सुनकर तुरंत ही उन्हें हृदय में उतारा, सोचा और फिर दूसरे ही क्षण कुछ निश्चय-सा करके जवाब दिया: "यमदेव! आप जिन भोगविलासों की बात करते हैं, उनका क्या ठिकाना? वे आज हैं और कल नहीं। आप ही बताइए, क्या इंद्रियों के ये भोग इंद्रियों के तेज में वृद्धि करते है? महाराज! मैं तो यह समझा हूं कि ये सारे भोगविलास इंद्रियों की शक्ति का ह्रास करते हैं, और जिस बल का उपयोग जीवन को उन्नत बनाने में होना चाहिए उसे व्यर्थ ही नष्ट कर डालते हैं। महाराज! आप चाहें तो मृत्युलोक का ही क्यों, सारे ब्रह्माण्ड का साम्राज्य दे सकते हैं। पर जिस आदमी ने अपने अंगुष्ठमात्र अंतःकरण पर आधिपत्य प्राप्त नहीं किया है, उसे इस संसार के साम्राज्य से सन्निपात ही न होगा? महाराज! ये हाथी, घोड़े, रथ, रमणी आदि आप ही को मुबारक हों! मेरी यह सामर्थ्य नहीं।

"आप मुझे दीर्घायु देने को कहते हैं, सो ठीक है। लेकिन आप अधिक-से-अधिक कितनी लंबी उमर देंगे? सौ, हजार, लाख, करोड़, या अरब वर्षों की ही न देंगे? अधिक-से-अधिक आप मुझे ब्रह्मा की उम्र दे सकेंगे। तथापि महाराज! अनन्तता की तुलना में हिरण्यगर्भ की आयु का हिसाब क्या? आयुष्यमात्र के लिए काल की मर्यादा तो है ही। मैं तो आपसे जीवनविद्या माँग रहा हूँ, जिससे मैं काल से भी परे पहुँच सकूँ।

"और महाराज! आपके समान देव के दर्शनों को पाकर भी यदि मैं नितांत अल्पायु या दरिद्र बना रहा तो इसकी लाज आपको ज्यादा होगी। मैं उसकी चिन्ता क्यों करूँ? आप अमोघदर्शन कहलाते हैं; फिर भला मुझे इन छोटी-मोटी बातों की पर्वा ही क्यों हो? देव! आप मुझे जीवन-विद्या सिखाइए, और दूसरी सब बातों को छोड़ दीजिए। नचिकेता आप से दूसरा कोई वर मांगेगा ही नहीं।"

नचिकेता के इस दृढ़ निश्चय को सुनकर यमराज बहुत प्रसन्न हुए और बोले: "धन्य हो, कुमार धन्य हो! मनुष्यमात्र के जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब उसके सम्मुख दो रास्ते खड़े रहते हैं: एक श्रेय का, दूसरा प्रेय का। एक आत्मिक कल्याण का, दूसरा भोगविलास का। एक उन्नति का, दूसरा पतन का। जब हम जरा गहराई में बैठकर देखते हैं, तो मानव-जीवन में पग-पग पर ये दो मार्ग उपस्थित मिलते हैं। लेकिन मनुष्य सदैव ही इतना जागरूक नहीं रहता। इन दोनों में श्रेय का मार्ग कंटीला है, विकट है, शुरू में कड़ुआ लगनेवाला है; जब कि प्रेय का मार्ग सरल है, मोहक है, और सुलभ है। जीवन में कई बार इन दो में से एक को चुनने के अवसर मनुष्य के सम्मुख खड़े होते हैं। ऐसे समय जो आदमी सोच-समझकर श्रेय के मार्ग को पसंद करता है, और

प्रेय के मार्ग को मोहक प्रतीत होते हुए भी छोड़ देता है, वह वीर है, सच्चा आदमी है, और मनुष्यता या आदमियत की राह पर है।

"कुमार ! तुम्हारे सम्मुख भी आज ये दो मार्ग थे। मेरे प्रबल आग्रह के रहते हुए भी तुम प्रेय मार्ग को ठुकराकर श्रेय मार्ग पर दृढ़ रहे हो, यह देखकर मैं तुमपर अतिशय प्रसन्न हुआ हूँ।

"बेटा ! मैं तुम्हें जीवनविद्या सिखाऊंगा। संसार के बहुतेरे लोग अपनी बुद्धि द्वारा इस जीवनविद्या को जानते-बूझते हैं, पर इन लोगों के जीवन में यह ओत-प्रोत नहीं हो पाती : वह कच्चे पारे की भांति शरीर के अंग-प्रत्यंग से फूट निकलती है। इस प्रकार के अनधिकारी लोग न केवल दुनिया को बल्कि अपनेआपको भी धोखा देते हैं। जो जीवनविद्या को सचमुच पाना चाहते हैं, उन्हें पहले उसे पाने की पात्रता प्राप्त करनी चाहिए; अधिकारी बनना चाहिए। तुममें यह पात्रता, यह अधिकार है। तुम स्वयं सत् असत् को पहचानते हो। तुम स्वयं भोगविलास से स्वभावतः उदासीन हो। तुम इस विद्या को प्राप्त करने के लिए अतिशय आतुर और उत्कंठित हो। अतएव कुमार ! मैं तुम्हें वह विद्या देता हूं। इस विद्या का सच्चा अधिकारी तो सैकड़ों-हजारों वर्षों में कभी एकाध बार जन्म लेता है।"

यों कहकर यमराज ने नचिकेता को जीवनविद्या या ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।

३

गजेन्द्रमोक्ष

कहते हैं, मानव संसार को क्षीरसागर नामक एक बड़ा महासागर चारों ओर से घेरे हुए है। आजतक कोई नहीं जान पाया कि इस क्षीर-सागर की लहरें किस किनारे पर टकराती हैं।

इस सागर में त्रिकूट नाम का एक बड़ा पर्वत था। इस पर्वत के तीन बड़े-बड़े शिखर थे, जो बरबस लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचते थे : एक रुपहला, दूसरा सुनहला, तीसरा मणिमय। चकोर और मोर, तोता और मैना, गौरया और चिड़िया सभी इस रुपहले शिखर पर किल्लोल किया करते; रात में चाँद अपनी शील किरण से शिखर को नहलाता रहता; त्रिकूट के सुनहले शिखर पर जब सूरज की किरणें पड़तीं, सारा पर्वत ऊपर से नीचे तक जगमगा उठता; जब पर्वत के मणिमय शिखर पर रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर अप्सराएं नृत्य करतीं, सारे पर्वत पर रूप और रंग की तरंगें लहराने लगतीं। त्रिकूट पर्वत पर अप्सराएं विहार करतीं, किन्नर मधुर गान गाते, सिद्ध और मुनि तप तपते, देव और देवियां स्वर्ग का सुख लूटतीं; समूचे पर्वत पर सागौन और देवदार, आम और जामुन, बर-गद और पीपल, नीम और बकुल आदि विविध वृक्षों की कतारें सुशो-भित थीं। जब पर्वत की गुफाओं से निकल कर सिंह और बाघ गर्जन करते तो ऐसा मालूम होता, मानो दूध की लहरों को विदीर्ण कर रहे हों! वैसे क्षीरसागर की श्वेत तरंगें और उन तरंगों से भी अधिक श्वेत उनका फेन जब पर्वत के चरणों को धोता नजर आता तो समूचे पर्वत

पर एक प्रकार की श्वेत छाया फैल जाती। पर्वत के शिखरों से निकलकर कोई झरना उछलता-कूदता नीचे की किसी गुफा में अदृश्य होजाता, तो दूसरा कोई धीमे-धीमे बहता हुआ पर्वत के अनेक गली-कूचों का चक्कर लगाकर बाहर निकलता नजर आता; कोई झरना पेड़ों की जड़ों को सींचता हुआ धीरे-धीरे बहता, तो दूसरा बहुत ही ऊपर से गिरकर अपने गर्जन से सारे पर्वत को गुँजाये रहता। और इन नन्हे-नन्हे झरनों से धुलनेवाली रंग-बिरंगी मिट्टी से युक्त वह पर्वत विभिन्न रंगों द्वारा सजाये हुए किसी मदोन्मत्त हाथी की-सी शोभा को धारण किये रहता।

इस पर्वत पर एक बड़ा सरोवर था। सरोवर दस योजन लंबा, दस-योजन चौड़ा और तीन योजन गहरा था। सरोवर का पानी अत्यन्त निर्मल था, किन्तु अतिशय गहरा होने के कारण कहीं-कहीं उसका रंग भूरा और कहीं हरा दिखाई पड़ता था। पर्वत पर निवास करनेवाले सिद्ध और चारण, मुनि और तपस्वी इस सरोवर की रत्न-शिलाओं पर बैठकर स्नान-ध्यान करते थे; पर्वतनिवासी देव और देवियां, यक्ष और गंधर्व सभी इस सरोवर के जल में क्रीड़ा करते थे; इस सरोवर के सहस्रदल कमल भगवान् विष्णु पर चढ़ाये जाते थे; पर्वतवासी छोटे-बड़े सभी पशु-पक्षियों की प्यास इसी सरोवर के जल से बुझती थी।

ऐसे इस समृद्धिशाली पर्वत पर एक हाथी रहता था। विशाल उसका गंडस्थल था, सुन्दर और लंबी उसकी सूंड थी, चौड़े और सुहावने उसके कान थे, बड़े-बड़े नुकीले और श्वेत उसके दाँत थे, मस्त और मनोहर उसकी चाल थी। गंडस्थल से उसके सदा मद झरता रहता था। ऐसा मदमस्त हाथी था वह। जब यह हाथी प्रतिदिन अपनी हथिनियों के साथ सरोवर में जल-क्रीड़ा के लिए प्रवेश करता, तब बेचारे अनेक प्राणी डरते-डरते पानी पीते, और कुछ तो मारे डर के प्यासे ही भाग जाते।

जब मस्ती में आकर हाथी छोटे-मोटे पेड़ों को जड़मूल से उखाड़ डालता, तो अनेक पशु-पक्षियों के घोंसले व घर नष्ट हो जाते और अनगिनत मादाएँ अपने आक्रंद से पर्वत को गुँजा देतीं। यह हाथी जब हजार-हजार हथिनियों को साथ लेकर झूमता हुआ निकलता, तो सारा पर्वत उनके पदाघात से काँप उठता। और जब हाथी अपनी सूंड में पानी भर उसे ऊपर फव्वारे की तरह उड़ाता, तो ऐसा प्रतीत होता, मानो पहाड़ पर बारिश शुरू होगई हो! हथिनियों की सूंड में अपनी सूंड डालकर जब हाथी उनके साथ अटखेलियां करता, तो देव और देवियां भी उस दृश्य को एकटक निहारा करतीं। जब हाथी सूंड में पानी भर-भरकर अपनी प्रियतमाओं को घूंट-घूंट पिलाता, तब तो रसिक मानवों को भी उसकी रसिकता के आगे शरमाना पड़ता। जब हाथी अपनी सूंड से किसी कमल को तोड़कर अपनी प्यारी हथिनी पर उसे छत्र की भांति थामे रहता, तब तो वहां स्नेह अपनी चरमसीमा को पहुंच जाता। ऐसा जीवन बितानेवाला, ऐसे-ऐसे भोग-विलासों में रत रहनेवाला, अपनेको समूचे पर्वत का स्वामी समझने वाला यह हाथी इस पर्वत पर रहता था। अपनी सूंड में पेड़ों के तनों को लपेट-लपेटकर जब यह उन्हें जड़मूल से उखाड़ता, तो साथ ही अनेक छोटे-मोटे पंछियों का दम भी उखड़ जाया करता। यह मदोन्मत्त हाथी जब सरोवर के जल में पैठता, तो अनेक छोटे-मोटे जलचर जीव इसके डर से ही मर जाते। तिसपर भी हाथी तो अपना और अपनी हथिनियों का ही विचार करता और निरंकुश भाव से पर्वत पर उपद्रव मचाया करता।

चारों ओर अनंत और अपार क्षीरसागर था; सागर की श्वेत लहरों बीच अटलभाव से खड़ा हुआ त्रिकूट पर्वत था; पर्वत पर विशाल फैलाव-वाला सरोवर था; और सरोवर में नित्य यौवन का आनन्द लूटनेवाला यह

गजराज था! गजराज के चहुं ओर हथिनियां थीं, कमल थे, सरोवर था, पेड़, भ्रमर, शोभा, सुख, मस्ती और विलास की विपुलता थी।

एक बार हाथी अपनी हथिनियों के साथ सरोवर में पानी पीने आया। उसके गण्डस्थल से मद झरता था; अपनी लंबी सूँड को वह बीच-बीच में हथिनियों की पीठ पर डुलाता था; उसकी भारी भरकम चाल से सारा पहाड़ डोलने लगा था; उसकी मदोन्मत्त और अधमुँदी आँखों में सुख का नशा छाया हुआ था। आज मारे प्यास के उसका कंठ इतना सूख रहा था कि ज्योंही वह सरोवर के पास आया, सीधा पानी में पैठ गया, और पलक मारते में बड़ी दूर निकल गया।

इस सरोवर में एक मगर रहता था। पर्वत की गोद में जब सरोवर का जन्म हुआ, तो साथ ही उसमें यह मगर भी पैदा होगया। कमलों का वन इस मगर का निवासस्थान था। यह जगह बहुत ही चिकनी-फिसलनवाली थी। एक ओर सुन्दर-सा ढाल था और ढाल के खत्म होते ही तुरन्त एक गहरा खड्ड आ जाता था। यों यह जगह बड़ी भयावनी थी। जब हाथी प्रतिदिन कमलवन को कुचलता इधर आता, तो इस स्थान से बचकर आया करता; लेकिन आज प्यास के मारे जोश ही जोश में वह एकदम धँस पड़ा और धँसते ही उसका पैर फिसला। मगर हाथी की ताक में छिपा हुआ था, मौक़ा पाकर वह एकदम ऊपर आया और पूँछ के एक प्रहार से हाथी को सहज परेशान करके उसने उसका पैर पकड़ लिया। पहले हाथी जरा घबरा-सा गया, लेकिन फिर तुरन्त ही उसने अपना पैर उठाया और मगर को पैर के झटके से दूर फेंकने की कोशिश की। किन्तु मगर की पकड़ जबर्दस्त थी। उसने अपनी दाढ़ों को हाथी के पैर में पूरी ताकत से चुभो दिया था। मगर हजार हथिनियों के स्वामी उस हाथी को पानी में खींचने लगा।

हाथी ने मारे वेदना के चिंघाड़ना शुरू किया; हथिनियों की सूँड में सूँड डालकर वह अपना पैर खींचने की कोशिश करने लगा; क्रोध और पीड़ा से संतप्त होकर उसने खूब पानी उड़ाया; पर व्यर्थ हुआ! हथिनियाँ शुरू में आकुल-व्याकुल होकर सरोवर के तट पर भाग गईं; वहाँ खड़ी-खड़ी रोने लगीं; और फिर पानी में पैठकर हाथी के नजदीक पहुँचीं एवं उसे किनारे की ओर खींचने लगीं। लेकिन किसकी हिम्मत थी जो मगर की दाढ़ों से हाथी को निकाल पाता?

हाथी और मगर की यह खींचातानी एक हजार साल तक चली। हाथी अपनेको और अपने साथ मगर को सरोवर के तट की ओर खींचता, और मगर हाथी के पैर को तथा उसके समूचे शरीर को गहरे पानी में ले जाने की कोशिश करता; हाथी ने अपनी ताकत आजमाने में कोई कसर न रक्खी, लेकिन मगर की दाढ़ से छूटना उतना ही कठिन था जितना मौत की दाढ़ से छूटना। पूरे एक हजार वर्ष तक दोनों की यह खींचातानी चली। अन्त में हाथी थक गया; उसका अंग-अंग शिथिल पड़ गया; उसकी आवाज बैठ गई; उसकी शक्ति क्षीण हो गई, उसकी सूँड लड़खड़ाने लगी। सारे पर्वत को हिला डालनेवाला गजराज शिथिल-गात्र बन गया।

अपने प्रियतम की ऐसी दुर्दशा देख हथिनियाँ बेचारी रोने लगीं। जिस सरोवर में आजतक हाथी के साथ जल-क्रीड़ाएं की थीं, उसी सरोवर में अपने उसी प्रियतम हाथी को असहाय और मृत्यु-मुख में छोड़कर एकाकी वापस लौटना पड़ेगा, इस विचार मात्र से वे बेचारियाँ तिल-मिलाने लगीं।

और हाथी? वही पर्वत था, वही वृक्ष, वही सरोवर, वही स्वच्छ जल, वही सुनहले कमल : सब कुछ वही था, किन्तु हाथी को आज वही

सब कुछ और ही प्रतीत होता था। त्रिलोकी को तिनके के समान समझनेवाला गजराज दीन बन गया था। जो मछलियाँ हाथी को जल में पैठते देखकर मारे भय के पलायन कर जाती थीं, वे ही अब वर्षों बाद हाथी के पैरों के इर्द-गिर्द खेलने लगीं और उसे चिढ़ाने लगीं; जिन मादाओं ने हाथी की निरंकुश क्रीड़ाओं के कारण अपने प्राणप्यारे बच्चों को अपने सामने मरते देखा था, जिन्होंने अपने प्यारे अंडों को हाथी के पैरों तले नष्ट होते देखा था, और जिन मादाओं के मामूली भोग-विलासों की हाथी अब तक हँसी उड़ाता आया था, वही मादाएँ अब तट के पेड़ों पर बैठी मनमानी किलकती और चहकती थीं। हाथी ने पैर की पीड़ा को भूलकर एक नजर सरोवर के आस पास डाली। पर्वत के पशु-पक्षी, सरोवर के वृक्ष, पर्वतवासी देव और देवियां, छोटे बड़े झरने, पर्वत के प्रकाशमान शिखर, पर्वत के चरणों को धोनेवाली क्षीरसागर की तरंगें, अपनी जवानी, जवानी की शरारतें, हथिनियों के साथ की जल-क्रीड़ा, सभी कुछ उसके सामने खड़े होगये और मानो उससे जीवन का हिसाब पूछने लगे। हाथी के अङ्ग-अङ्ग से पसीना छूटने लगा; वह सिर से पैर तक काँप उठा।

क्षीरसागर के एक सुदूर प्रदेश में भगवान् विष्णु शेषनाग पर शय्या बनाकर रहते थे। यह स्थान त्रिकूट पर्वत से बहुत दूर था, पर क्षीरसागर की रचना कुछ ऐसी थी कि उस स्थान से एक छोटा सा प्रवाह अदृश्य रूप से त्रिकूट की ओर निरन्तर बहा ही करता था, और इसी गुप्त प्रवाह के प्रताप से ही समूचा त्रिकूट पर्वत ओजस्वी बना रहता था। त्रिकूट पर्वत के प्राणी जान में हों या अनजान में, इच्छा से हों या अनिच्छा से, इसी प्रवाह के बल पर जीते थे; हाथी ने इस प्रवाह के ओजस् का खूब पान किया था, किन्तु आज वह सब पीना न पीना बराबर होगया था।

आज अपनी इस दीन अवस्था में हाथी को उस प्रवाह की याद आ गई, प्रवाह का वह स्थान याद हो आया : और प्रवाह के मूल प्रेरक शेषशायी भगवान् विष्णु का भी स्मरण हो आया। उसके मन में उस प्रवाह का सौंदर्य स्फूर्त हो उठा; और फलतः क्षणभर के लिए उसके उस दुर्बल शरीर में भी बिजली का संचार होगया।

शेषनाग पर सोये हुए भगवान् विष्णु की याद आते ही हाथी बरबस पुकार उठा : "हे प्रभो ! जिस क्षीरसागर में मेरा यह पर्वत है, उसीमें आप भी विराजते हैं। आपके कृपा प्रवाह से ही यह समूचा पर्वत जीता-जागता, हरा-भरा, फूला-फला, नजर आता है। तथापि हम आपको पहचानते नहीं। इस मनोहर सरोवर में, इन सुनहले कमलों के बीच कहीं मगर भी रहता है, इसका मुझे कोई पता न था—हमें पता हो भी कैसे ? मैंने कभी सोचा तक न था कि किसी दिन यह मगर मुझे पकड़ेगा और मैं अपनी सूँड से हथिनियों को छू भी न सकूँगा; मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि एक दिन मेरी यह प्रचण्ड काया कोयले के पोतों-सी कच्ची पड़ जायगी; मैंने कभी कल्पना तक भी नहीं की थी कि मेरा सारा बल किसी दिन इस तरह निकम्मा हो रहेगा। हे प्रभो ! आज यह सब समझ में आ रहा है। सरोवर के तट पर कल्लोल करनेवाली ऐ मादाओ ! सच है कि तुम्हारे बच्चों को मैंने घोंसलों से गिरागिराकर मार डाला है; आज मैं भी उन्हींके पथ का पथिक बना हूँ। तुम मुझे माफ करो। मैं जवान था, मदमस्त था, हजार-हजार हथिनियों का स्वामी था, मुझे क्या पता था कि एक दिन यह सब मेरे पास न रहेगा। प्रभो ! मेरी बिसात ही कितनी ? मेरा ही क्यों, इस समूचे पर्वत का बल आपके आधीन है। मैं केवल अभिमानवश उसे अपना समझता रहा, जो सचमुच मेरा न था। इसके लिए आप मुझे क्षमा कीजिए। प्रभो ! मैं पामर हूँ। मैं आपकी

शरण में आया हूँ। मैं निर्बल हूँ और आपका शरणागत हूँ। मैं निर्धन हूँ और आपकी शरण में हूँ। मैं दीन हूँ और आपकी शरण में आया हूँ। यह सूँड, ये दाँत, ये पैर, यह समूचा शरीर मैं आपके चरणों में चढ़ाता हूँ। नाथ! मुझे बचाइए। आप अनाथों के नाथ हैं, आप अशरण-शरण हैं, निर्बल के बल हैं।"

गजराज की इस आर्त्त पुकार को सुनकर भगवान् विष्णु तुरन्त ही वहाँ पधारे। भगवान् को देखते ही हाथी के पैर में जोर आगया, उसने अपनी सूँड द्वारा पानी की छोटी-सी अंजुली भगवान् को समर्पित की, छोटा-सा एक कमल प्रभु के चरणों में चढ़ाया और नतमस्तक हो इस तरह प्रभु के सामने खड़ा रहा, मानों अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में चढ़ा रहा हो!

हाथी के इस समर्पण से भगवान् प्रसन्न हुए। विष्णु के सुदर्शन चक्र ने सनातन नियमानुसार मगर का संहार कर डाला और हाथी का पैर छूट गया।

४

सुन्द-उपसुन्द

प्राचीनकाल में सुन्द-उपसुन्द नामक दो दानव भाई थे। दोनों एक-से वीर्यवान्, एकसे पराक्रमी और एकसे क्रूर थे। इन दोनों भाइयों में इतना ज़बर्दस्त एका था कि जो विचार एक का होता, वही दूसरे का भी; जो काम इसका होता, वही उसका भी। दोनों एकसाथ खाते-पीते; एकसाथ उठते-बैठते। दोनों में इतनी एकता थी कि दो शरीर होते हुए भी वे दरअसल एक ही कहे जा सकते थे।

एक बार इन भाइयों के दिल में त्रिलोक-विजय की इच्छा उत्पन्न हुई। इसके लिए असाधारण तपश्चर्या की और संसार के आदिदेव ब्रह्मा की सहायता अपेक्षित थी। बिना इसके त्रिलोक विजय की कोई संभावना न थी। अतएव दोनों ने विन्ध्याचल पर महान् तप शुरू किया। दोनों भाइयों ने राजमुकुट उतार जटाएं धारण कीं; दोनों ने राजसी पोशाक उतार वल्कल पहने, और तीनों लोकों की प्रभुता के लिए जैसे तप की आवश्यकता थी वैसा घोर तप शुरू किया। सुन्द-उपसुन्द के समान दृढ़निश्चयी भाइयों के निश्चयमात्र से जहाँ तीनों लोकों में खलबली मच जाती थी, तहाँ जब तपश्चर्या भी शुरू होगई, तो क्या पूछना था! देवलोक में हलचल मच गई। देवों को जगद्गुरु का यह आदेश है कि उन्हें तपस्वियों की कड़ी परीक्षा लेनी चाहिए और जो टुटपूँजिये लोग प्रभु-कृपा प्राप्त करने के बहाने भगवान् के द्वार पर चक्कर लगाते हों, उन्हें उनकी योग्यतानुरूप दे-दिलाकर लौटा देना

चाहिए। सुन्द-उपसुन्द की उग्र तपस्या से सारा पर्वत संतप्त हो उठा। इसपर देवों ने अप्सराओं को भेजा। लेकिन सुन्द-उपसुन्द सदृश अटल पहाड़ों पर अप्सराओं के बाण बरसें तो भी क्या और न बरसें तो भी क्या? इन दोनों भाइयों ने अपनी इन्द्रियों को इस बुरी तरह जकड़ रक्खा था कि किसी भी प्रकार का प्रलोभन वहाँ प्रवेश नहीं कर पाता था।

सुन्द-उपसुन्द की इस उग्र तपश्चर्या से ब्रह्मा प्रसन्न हुए। वे आये और बोले : "वत्सो! मैं तुम्हारे तप से प्रसन्न हुआ हूँ। तुम अपना मन चाहा वर मुझसे माँग लो।"

ब्रह्मा के इन शब्दों को सुनकर दोनों भाई उठे। उन्होंने ब्रह्मा को प्रणाम किया और कहा : "पितामह! यदि आप प्रसन्न हुए हैं, तो हमें अपने इसी शरीर में अमर बना दीजिए। हम तीनों लोकों को जीत लेना चाहते हैं।"

भाइयों की इस माँग पर ब्रह्मा ने कहा : "देखो भाई, जब तुमने तप शुरू किया था, तुम्हारा विचार केवल त्रिलोक-विजय का ही था; अमर बनने का नहीं। इसलिए मैं तुम्हें अमरता तो नहीं दे सकूँगा। अमरता छोड़ और जो कुछ तुम्हें माँगना हो, माँग लो।"

दोनों ने एकसाथ कहा : "तो पितामह! आशीर्वाद दीजिए कि हम स्थावर, जंगम किसी भी प्राणी या पदार्थ द्वारा न मरें। अगर मरें ही, तो आपस में एक-दूसरे को मारकर ही मरें; बस, यही हमारी इच्छा है।"

ब्रह्मा ने कहा : "वत्स! तथास्तु! बड़े पक्के मालूम होते हो तुम! अपने बूढ़े पितामह को भी बेच खाने लायक होशियारी तुममें आगई है न? तुम समझते हो कि इस तरह परस्पर मरने का वरदान माँगकर तुमने एक तरह से अमरता का ही वरदान पा लिया है। सच है न?

अच्छा जाओ, प्रसन्न रहो और सुख से तीनों लोकों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करो।"

इतना कहकर ब्रह्मा अन्तर्धान होगये और दोनों दानव अपने घर गये। घर जाकर दोनों भाइयों ने जटाएं मुँडवा डालीं और माथे पर पुनः मुकुट पहन लिये; वल्कलों का त्याग करके स्वच्छ वस्त्रालंकार धारण किये, और विन्ध्याचल के अरण्य में जहाँ पहले दोनों लगभग उपवासी रहते थे, तहाँ अब खान-पान और गान-तान की लहरें उठने लगीं।

इस प्रकार कुछ दिनों तक तपश्चर्या की थकावट उतार चुकने पर दोनों भाई त्रिलोक-विजय के लिए निकल पड़े; उन्होंने महासागर-सी विशाल दानव सेना तैयार की; तुरन्त ही इन्द्रलोक पर छापा मारा और उसे जीत लिया; देवों को चुन-चुनकर भगा दिया; फिर पाताल में प्रवेश किया और वहाँसे नागों को खदेड़ा। इसके बाद ये दोनों भाई मृत्युलोक में आये; यहाँ आकर सबसे पहले इन्होंने उन लोगों पर हाथ साफ किया जो यज्ञयागादि में रत रहते थे और संसार में असुरों के प्रताप को फैलने नहीं देते थे। दानव सेना मृत्युलोक में चहुँओर फैल गई और ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, परिव्राजक, तपस्वी, योगी आदि जो-जो भी लोककल्याण-कारी कार्यों में लगे थे उन सबको चुन-चुनकर मौत के घाट उतार दिया। फिर दोनों भाइयों ने मृत्युलोक के राजाओं पर आक्रमण किया और जितने राजा वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करके समाज को सुरक्षित बनाने में लगे थे उनका सर्वनाश कर डाला। दानवों के इस भीषण आक्रमण से सारी प्रजा भयभीत हो उठी। व्यापार-धन्धे सब बन्द होगये, पुण्यकार्य रुक गये, खेती बैठ गई, गो-पालन का नामशेष होगया, समूचा समाज भयग्रस्त और त्रस्त होउठा। यहाँसे वहाँतक सर्वत्र सन्नाटा-सा छा

गया। इस प्रकार तीनों लोकों को शून्यवत् बनाकर ये दानव भाई कुरुक्षेत्र में आनन्द से रहने लगे।

जगत् की ऐसी हीन और निर्जीव दशा देखकर जगत् के संरक्षक देव चिन्तित हो उठे। वे डरे कि तीनों लोकों को धारण करनेवाले धर्म का यदि नाश होगया तो फिर इस दुनिया का क्या हाल होगा? अत: वे सब ब्रह्मा के पास पहुँचे और कहने लगे : "पितामह! आपके वरदान से मदोन्मत्त बनकर ये दानव-बन्धु तीनों लोकों का सर्वनाश कर रहे हैं। आपने इन्हें अमरता तो नहीं दी, पर इनकी यह एकता इन्हें अमरवत् बनाये हुए है। लोग सब त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं; यदि कुछ ही दिन और यही दशा रही, तो त्रिलोकी में धर्म नाम की कोई वस्तु न रह जायगी। आप महान् हैं, सर्वसमर्थ हैं; पर हमारे हृदय विदीर्ण हो रहे हैं, इसलिए अपनी इस गुहार के साथ आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।"

ब्रह्मा ने हँसते-हँसते कहा : "संसार के संरक्षको! आपकी व्यथा को मैं समझता हूँ। समय ऐसा आलगा है कि इसमें क्षणभर के लिए आपकी श्रद्धा भी डगमगा सकती है। किन्तु याद रक्खो कि परमात्मा के अटल नियमों को कोई बदल नहीं सकता। जो अपनी माँ के पेट से पैदा हुआ है वह कभी मौत से बचा नहीं और विश्वास रक्खो कि बचेगा भी नहीं। मनुष्य ने मृत्यु से बचने के लिए अबतक नाना प्रकार की युक्ति-प्रयुक्तियों से काम लिया है, वरदान पाये हैं, पर अन्त में मृत्यु से वह बच नहीं पाया है। पामर मनुष्य ईश्वर की संपूर्ण शक्ति को नहीं पहचान पाता, इसीलिए वह परमेश्वर को भी धोखा देने की युक्तियाँ सोचता है, लेकिन अन्त में मनुष्य अपनी इन्हीं युक्तियों से मरता है। आप घबराएँ नहीं। संसार में जबतक ईश्वर है, तबतक धर्म भी है। संसार कभी धर्मविहीन नहीं होगा। आज जिस उथल-पुथल को आप देख रहे हैं,

वैसी उलटा-पलटी तो इस संसार में सदैव होती रहेगी। ईश्वर की सृष्टि में इसका भी स्थान है।"

देवों ने निवेदन किया : "पितामह ! आपने यथार्थ ही कहा है। लेकिन हमारी समझ में नहीं आता कि आखिर ये दानव मरेंगे कैसे ? जब हम इन दोनों की एकता का विचार करते हैं तो लगता है कि लाखों और करोड़ों वर्ष बीत जाने पर भी और शायद 'ब्रह्मा की संपूर्ण आयु' समाप्त होजाने पर भी इन दोनों में कभी लड़ाई होगी नहीं और ये कभी एक-दूसरे को मारेंगे नहीं। हमारे लिए तो यह संभावना ही कल्पनातीत है।"

ब्रह्मा बोले : "परमेश्वर के सभी मार्गों को आप क्योंकर समझ सकते हैं ? उस महाकवि की कल्पनाओं को ग्रहण करने का सामर्थ्य किसीमें नहीं है। उसके मार्गों को समझने के लिए उसकी उपासना करनी पड़ती है। लेकिन आप ठीक कहते हैं; इन दोनों भाइयों की एकता वास्तव में अटूट प्रतीत होती है। ऐसा मालूम होता है कि ये कभी आपस में लड़ेंगे नहीं और इसीलिए मरेंगे भी नहीं। पर आप सब भलेमानस हैं। आपको श्रद्धा रखनी चाहिए। यह तो मैं भी नहीं बता सकता कि इन दोनों भाइयों की एकता में प्रभु कब कैसे विक्षेप डालेंगे। तथापि मैं इतना तो जानता हूँ कि इस प्रकट एकता की जड़ बहुत गहरी नहीं है। एक थाली में खाने-पीने, एकसाथ उठने-बैठने, आनन्द-विनोद करने और शत्रुओं का मिलकर मुकाबला करने एवं उन्हें जीतने में जो एकता नजर आती है, निश्चय समझिए कि, वह बाह्य एकता है। जिस एकता के गर्भ में जीवन के किसी उच्च ध्येय की एकता नहीं, जिस एकता की जड़ में लोक-कल्याण की पवित्र एकता नहीं, जिस एकता में मानवी आत्मा के आदर का भाव नहीं, जिस एकता में विशाल मानव-प्रेम नहीं, और जिस एकता की नींव

में एक-दूसरे की गलतियों को निवाह लेने की पवित्र उदारता नहीं, वह एकता निरी राक्षसी एकता है। यह एकता प्रकट में कितनी ही प्रचण्ड क्यों न दिखाई पड़े, तो भी संसार की एक साधारण-सी वस्तु भी इसको छिन्न-भिन्न कर सकती है, और ऐक्य का अभेद्य प्रतीत होनेवाला क़िला एक पल में धराशायी हो सकता है। सुन्द-उपसुन्द की एकता ऐसी ही राक्षसी एकता है। अभीतक वे अपने शत्रुओं को पराजित करने में लगे थे; अब शत्रुओं का अन्त आलगा है, अतः कौन कह सकता है कि वे आपस में लड़ेंगे ही नहीं? दोनों नौजवान हैं, दोनों साधन सम्पन्न हैं, दोनों मदोन्मत्त हैं, दोनों मांस-मिट्टी के पुतले हैं, दोनों हृदयवान हैं, और दोनों वासना के पुतले हैं। कौन जानता है कि कल ही इनमें से किसके हृदय में कौनसी वासना जाग उठेगी और वह कैसा रूप धारण कर लेगी? मैं तो ऐसे राक्षसी स्वभाव वाले लोगों की एकता में रत्तीभर भी विश्वास नहीं करता; क्योंकि रागद्वेष से युक्त लोगों की एकता केवल स्वार्थवश ही टिकती है; और विश्वास रक्खो कि इस प्रकार का एक स्वार्थ दूसरे स्वार्थ से रगड़ खाकर चकनाचूर हो रहता है।"

देव बोले : "पितामह! आपने हमें जो कुछ समझाया है, उसे हम स्वयं नहीं समझ पाये थे। इन दानव-बन्धुओं की एकता देखकर हम तो भयभीत हो उठे थे। किन्तु आपका यह कथन यथार्थ है कि ऐसी सभी एकताएँ बालू की दीवार से अधिक नहीं होतीं। दूसरों में सच्ची एकता तो ठीक, यह नकली एकता भी नहीं होती, इसलिए सुन्द-उपसुन्द की यह एकता हमें मुग्ध किये डालती है। प्रभो! आज्ञा दीजिए। हमने आपको व्यर्थ ही कष्ट दिया।" यों कहकर देव चले गये।

सुन्द-उपसुन्द तीनों लोकों को जीतकर घर आये। अब चूँकि सारे संसार में उनका कोई शत्रु न रह गया था, कोई विरोधी न बचा था,

इसलिए न उन्हें किसीसे लड़ने की आवश्यकता थी, न किसीपर विजय पाने की जरूरत। उनके लिए अब नया कुछ प्राप्त करने को रहा ही न था। अतएव अब दोनों भाइयों को फुरसत मिली और वे इस फुरसत का सारा समय सिर्फ ऐशो-आराम में बिताने लगे। खाते-पीते, सोते, गाते-बजाते और नाचते।

एक बार दोनों भाई विन्ध्याचल के एक मनोहर उपवन में बैठे थे। उनके सामने अति रूपवती स्त्रियाँ नाच रही थीं। इतने में दूर से एक स्त्री आई। इस स्त्री की देह पर लाल वस्त्र पड़ा हुआ था; वस्त्र इतना बारीक था, कि उसमें से उसकी देह के अंग-प्रत्यंग स्पष्ट ही दिखाई पड़ते थे। इस स्त्री के हाव-भाव और इसकी देह के अवयव इतने मनोहर थे कि समर्थ से समर्थ योगी की दृष्टि भी एक बार तो बरबस ही उसकी ओर खिंच ही जाय! कहा जाता है कि जब वह पैदा हुई और मुनियों को परिक्रमा देने चली, तब अच्छे-अच्छे मुनिवरों को भी संयमपूर्वक अपनी आँखें मूँद रखनी पड़ी थीं; तिसपर भी एक मुनि को तो उसे देखने के लिए चार मुँह और आठ आँखें फूट ही निकलीं! यह सुन्दरी जब कर्णिकार के फूलों को बीनती हुई सुन्द-उपसुन्द के समीप आई, तो अनजान में ही दोनों भाई इसके स्वागत में खड़े हो गये; दोनों ने इसे जाने के लिए अपने बीच में से मार्ग दे दिया। इस सुन्दरी का नाम था, तिलोत्तमा।

जब तिलोत्तमा दोनों भाइयों के बीच आ खड़ी हुई, तो दोनों एक-टक उसीको देखने लगे; और देखते-देखते दोनों के हृदय में काम-संचार होने लगा। सामने जो नृत्य होरहा था उसकी उपेक्षा करके पहले सुन्द ने नवागत सुन्दरी का दाहिना हाथ अपने हाथ में लिया। इसपर उपसुन्द ने उसका बायाँ हाथ पकड़ा। तिलोत्तमा की दृष्टि तो अपने पैर के नाखूनों पर ही गड़ी थी।

सुन्द ने दाहिना हाथ पकड़ा ही था कि उस सुन्दरी के स्पर्शमात्र से वह अपनी सुध-बुध खो बैठा और कहने लगा : "उपसुन्द ! जानते हो, यह तुम्हारी भाभी है ?"

उपसुन्द के हाथ में तिलोत्तमा का बायाँ हाथ था। वह उसके स्पर्श का सुखानुभाव करता हुआ आँखें मूँदकर बोला : "सुन्द ! जानते नहीं, यह तुम्हारी अनुज-वधू है ?"

फिर क्या था। बात की बात में सुन्द और उपसुन्द तिलोत्तमा के हाथों की खींचा-तानी में लग गये, खींचा-तानी से गाली-गलौज पर पहुँचे, और अन्त में मारपीट पर उतर आये। तिलोत्तमा के एक कटाक्ष ने उनकी एकता, उनके संगठन और उनकी बन्धुता को अतीत की वस्तु बना दिया; और इन सबके गर्भ में जो निरी पशुता छिपी बैठी थी, वह अचानक प्रचंड हो उठी। दोनों की आँखों से चिनगारियां निकल रही थीं। दोनों की ज़बान पर सारी दुनिया की विषैली वाणी सवार हो चुकी थी। दोनों की भुजाओं में त्रिलोक-मर्दन का सामर्थ्य तो था ही। दोनों के हृदयों को तिलोत्तमा ने वेध डाला था। दोनों भाई द्वन्द्व-युद्ध में गुथ गये और मरणासन्न दशा में धरती पर ढुलक पड़े।

प्रतिदिन एकसाथ खाने-पीने और एकसाथ सोने-बैठनेवाले ये त्रिलोकजयी भाई जब मृत्यु के ग्रास बन गये, तो तिलोत्तमा अपने स्थान को लौट गई। सुन्द-उपसुन्द को अन्त तक यह न सूझा कि उनकी एकता की जड़ में घुन लग चुका था। अन्त में संसार ने देखा कि एकता का वह मज़बूत मचान खोखला बनकर एक क्षण में खत्म होगया—मिट्टी में मिल गया !

५

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी

गुरु के आश्रम में चर्चा चली।

एक शिष्य ने प्रतिपादन किया : "बिना गुरुकृपा के किसीकी विद्या सफल नहीं होती।"

दूसरे शिष्य ने समर्थन करते हुए कहा : "जैसे बिना वर्षा के खेत में नाज नहीं होता, वैसे ही बिना गुरुकृपा के सद्विद्या सफल नहीं होती।"

याज्ञवल्क्य एक कोने में बैठा यह सब सुन रहा था, और बीच-बीच में ऊपर आसमान की ओर एक नज़र देख लेता था। इतने में स्वयं आचार्य के शब्द उसके कानों तक पहुँचे : "गुरुकृपा अर्थात् प्रभुकृपा। जब गुरु की कृपा होती है, तो मूर्ख का हृदय भी प्रकाशित हो उठता है।"

जानदार घोड़े के लिए चाबुक के सिरे का हलका-सा स्पर्श भी काफी होता है। आचार्य के शब्दों को सुनते ही याज्ञवल्क्य का शरीर सिर से पैर तक काँप उठा; वह परप्रेरित की भाँति एकाएक उठ खड़ा हुआ और न जाने क्यों बरबस बोल उठा : "गुरुदेव ! शिष्य की योग्यता के बिना गुरु की कृपा व्यर्थ-सी है। मूसलधार वर्षा के बाद भी ऊसर जमीन में एक दाना तक नहीं पकता। पर, शिष्य यदि सुयोग्य हुआ तो संसार का नियम कुछ ऐसा है कि वह कृपा-प्रसाद से कभी वंचित नहीं रहता।"

याज्ञवल्क्य के इन शब्दों से सभा में एक सनसनी-सी फैल गई। सब उत्तेजित हो उठे। स्वयं आचार्य भी अपनेको रोक न सके।

"याज्ञवल्क्य ! तुम्हारा यह साहस कि तुम आज गुरुकृपा की अव-गणना करते हो ?" कहते-कहते गुरु की भौंहें टेढ़ी होउठीं।

अब याज्ञवल्क्य बच नहीं सकता था। उसे बलात् बोलना पड़ा। उसने कहा : "गुरुदेव ! मैं गुरुकृपा की अवगणना नहीं करता; बल्कि मानव-जीवन में उसके समुचित मूल्य को अंकित करना ही मेरा ध्येय है। मेरी नम्र सम्मति में मेरे ये मित्र और आप स्वयं गुरु-कृपा की अवहेलना कर रहे हैं।"

इस सीधे प्रहार को गुरु सह न सके। वे तिलमिला उठे और बरस पड़े : "मूर्ख ! गुरु-कृपा की मैं अवहेलना करता हूं ? मैं तो अभी-अभी गुरु-कृपा की प्रशंसा कर रहा था। उस समय तू कहाँ था ? अवहेलना तो तू ही कर रहा है।"

याज्ञवल्क्य ने अपनेको संभाला और शान्तिपूर्वक कहना शुरू किया : "महाराज ! किसी भी वस्तु की या मनुष्य की हद से ज्यादा कीमत आँकना उस वस्तु अथवा उस मनुष्य की अवहेलना करने के समान ही है। चित्रकार कहते हैं कि मनुष्य को उसके वास्तविक रूप से अधिक रूप-वान चित्रित करना उसका अपमान करने के समान है।"

अब तो गुरु के क्रोध का ठिकाना न रहा। वे बोले : "तू कितना सुयोग्य है, सो मैं देख लूँगा। चल, तूने जो मुझसे विद्या सीखी है, उसे तू उगल दे !"

याज्ञवल्क्य ने कहा : "जैसी आपकी आज्ञा !" और तुरन्त ही गले में अँगुली डालकर भरी सभा में क़ै करदी। याज्ञवल्क्य की यह तत्परता देख-कर गुरु भी स्तब्ध रह गये। लेकिन, अब बात बदलने का मौका न था। किसीके लिए इसकी गुंजाइश न रह गई थी। गुरु ने चित्त को स्वस्थ करके कहा : "मेरे प्यारे शिष्यो ! तुम सब तीतर बनकर इस विद्या को चुग

लो। मैं भी देखता हूँ, याज्ञवल्क्य अब किस प्रकार विद्या प्राप्त करता है!" इतना कहकर गुरु तो चले गये, और शिष्यों ने तीतर बनकर याज्ञवल्क्य की उच्छिष्ट विद्या को चुग लिया।

क़ै करते ही याज्ञवल्क्य का सारा शरीर पसीने से तर होगया; क्षणभर को उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया; ऐसा प्रतीत हुआ, मानो सारा शरीर चेतनाहीन होगया है। बड़े यत्नपूर्वक वह आश्रम से निकला। जिन शिष्यों ने तीतर बनकर उसकी सारी विद्या चुग ली थी, उन्होंने गुरु के दूर चले जाने पर याज्ञवल्क्य को अपने कन्धे पर बैठाया और उसे आश्रम के दरवाजे पर छोड़कर आँसूभरी आँखों से वापस लौटे।

याज्ञवल्क्य ने अब भगवान् सूर्यनारायण की उपासना शुरू की। उसे श्रद्धा थी कि जो सवितादेव समूचे संसार को प्रकाश पहुँचाते हैं, वे उसे भी अपना प्रकाश अवश्य ही देंगे। याज्ञवल्क्य की उग्र तपस्या से भगवान् सूर्यनारायण अन्त में उसपर प्रसन्न हुए, और एक दिन दुपहरी में उसके सामने प्रकट होकर बोले : "बेटा याज्ञवल्क्य! मैं तुम्हारे तप के कारण तुमपर प्रसन्न हुआ हूँ। तुम जो चाहो माँगो; मैं देने को तैयार हूँ।"

याज्ञवल्क्य ने प्रणामपूर्वक कहा : "महाराज! आप सचराचर जगत् को प्रकाश पहुँचानेवाले देव हैं। मैं अपनी समस्त विद्या क़ै करके आपकी शरण में आया हूँ। आप ही के प्रताप से मनुष्य में विद्या का प्रादुर्भाव होता है। अतः आप स्वयं मुझे जीवन-विद्या का उपदेश कीजिए।"

सूर्यनारायण ने कहा : "बेटा! तुम्हारा माँगा वर मैं देने को तैयार हूँ। तुम मुझसे जीवन-विद्या की आशा न रक्खोगे, तो और किससे रक्खोगे? लेकिन मेरी एक कठिनाई है। तुम जानते हो, मैं

निरन्तर भ्रमणशील हूँ। मेरा रथ चौबीसों घंटे चलता रहता है। इसलिए तुम्हें विद्या सिखाने का समय मेरे पास नहीं है।"

सूर्य के इन वचनों को सुनकर याज्ञवल्क्य ने हँसते-हँसते कहा : "भगवन्! आप समूचे संसार के स्वामी हैं। आपके कहने पर भी मैं कैसे मान लूँ कि आपके पास समय नहीं है? मैं जानता हूँ कि आप निरन्तर गतिशील हैं। किन्तु भगवन्! तीव्र-से-तीव्र गति में भी क्या एकाध बिन्दु स्थिरता या शान्ति का नहीं होता? इस समय भी तो आप गतिमान हैं; तिसपर भी आपने मुझे दर्शन देने की कृपा की है; इसी प्रकार आप मुझे उपदेश देने की कृपा भी क्यों न करें?"

भगवान् सूर्यनारायण ने कहा : "तुम सच कहते हो। अपनी शाश्वत गति में भी जब मैं मध्याह्न में रहता हूं तो एक क्षण के लिए अपने घोड़ों को ठहरा देता हूँ। उस एक क्षण में तुम विद्या सीखना चाहो तो मैं तैयार हूँ। मैंने सोचा था, कदाचित् तुम्हें ऐसे क्षणिक उपदेश से तृप्ति न होगी।"

याज्ञवल्क्य ने कहा : "भगवन्! मैं लगातार वर्षों के उपदेशों से थकथकाकर तो आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। मेरी प्रार्थना यही है कि मैं आपके इस एक क्षण के उपदेश को ग्रहण करने योग्य बनूँ। प्रतिदिन मध्याह्न में जिस समय आपका रथ आकाश में ठहरे आप मुझे उपदेश कीजिए। मैं मध्याह्न के समय आपकी प्रतीक्षा करता रहूँगा।"

"तथास्तु!" कहकर सूर्यनारायण अपनी राह चल दिये और उस दिन से याज्ञवल्क्य भगवान् सवितादेव से विद्या सीखने लगे।

जिन शिष्यों ने तीतर बनकर वेदों को चुग लिया था उनसे यजुर्वेद की तैत्तरीय शाखा बनी; और मध्याह्न में एक क्षण के अन्दर सूर्य भगवान ने याज्ञवल्क्य को जिस विद्या का उपदेश किया वह यजुर्वेद की माध्यंदिनी

शाखा बनी। इस प्रकार सूर्य भगवान् की उपासना कर चुकने पर याज्ञवल्क्य अपने समय के महान् योगी और ब्रह्मवेत्ता के नाम से विख्यात हुए।

× × ×

याज्ञवल्क्य के दो स्त्रियाँ थीं। एक कात्यायनी, दूसरी मैत्रेयी। कात्यायनी व्यवहारचतुर स्त्री थी; पर मैत्रेयी का झुकाव आध्यात्मिक विषयों की ओर विशेष था।

याज्ञवल्क्य ने अपने गृहस्थ जीवन में अनेक यजमानों के यज्ञ कराये, अनेक पंडितों को पराजित किया, विपुल दक्षिणा एकत्र की और अनेक राजाओं को अपना शिष्य बनाया। उस जमाने की अनेकानेक सभाओं में याज्ञवल्क्य की सिंहगर्जनाओं ने अधकचरे ब्राह्मणों को निस्तेज बनाया था; टुटपूँजियों को मुँह की खिलाई थी। गार्गी के समान विचक्षण विदुषी को भी याज्ञवल्क्य की महानता के आगे झुकना पड़ा था।

एक बार याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा : "मैत्रेयि ! अब मैं इस गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यास लेना चाहता हूँ। मैंने अपनी गृहस्थी के वर्षों में घर-बार, धन-दौलत, बरतन-भाँडे, साज-सामान आदि जितना भी एकत्र किया है सो सब मैं अपने हाथों तुममें बाँट देना चाहता हूँ, जिससे बाद में किसीको कोई शिकायत न रह जाय।"

याज्ञवल्क्य के इस विचार को सुनकर मैत्रेयी ने कहा : "पतिदेव ! मिट्टी से लथपथ हाथों वाले और मिट्टी खेलने में मगन बालक को जब मिठाई देने जाते हैं, तो बालक क्षणभर के लिए मिट्टी का त्याग कर देता है। आपको संन्यास में किसी महान् वस्तु के दर्शन होरहे हैं; इसी लिए आप गृहस्थाश्रम से निवृत्त होना चाहते हैं। क्या आप मुझे यह समझाने की कृपा करेंगे कि आप स्वयं किस महान् वस्तु के लिए इन

गाय-ढोर, घर-बार और धन-दौलत आदि को छोड़ना पसन्द करते हैं ?"

याज्ञवल्क्य ने कहा : "देवि ! इसमें समझाने की कौनसी बात है ? मैं तो स्पष्ट ही अमरता की प्राप्ति के लिए संन्यास लेना चाहता हूँ।"

मैत्रेयी ने पूछा : "तो ये गाय-ढोर, घरबार, धन-दौलत आदि आपको अमर न बनायेंगे ?"

याज्ञवल्क्य ने निःशंक होकर कहा : "नहीं। ये मुझे अमर नहीं बना सकते।"

मैत्रेयी ने फिर पूछा : "आप सोने से मढ़ी हुई सारी पृथ्वी मुझे अकेली को दे जायं, तो उससे मुझे अमरता मिलेगी क्या ?"

याज्ञवल्क्य ने कहा : "मैत्रेयी ! ठीक पूछा। इस प्रकार की सम्पत्ति से आकण्ठ भोगविलास में डूबे हुए लोगों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा भी बनेगा। ऐसी सम्पत्ति द्वारा तुम्हें मोक्ष की तनिक भी आशा न रखनी चाहिए।"

मैत्रेयी बोली : "तो महाराज ! जिस घर-संसार को छोड़कर आप अमरता की टोह में निकल पड़ना चाहते हैं, उस घर-बार को मैं क्या करूँ ? जिस ज्ञान के कारण आपको ये सब चीजें क्षुद्र प्रतीत होती हैं, जिस ज्ञान में भीगकर आप आज इस सारे प्रपंच से मुँह मोड़ना चाहते हैं, जिस ज्ञान के बल पर सारी दुनिया के संत घरबार से नाता तोड़ एक लंगोटी पहने चल पड़ते हैं, वही ज्ञान मुझे देने के बदले आप ये संसार में बाँधकर रखनेवाली चीजें मुझे किस लिए सौंप जाना चाहते हैं ? देव ! बहन कात्यायनी को इन चीजों की जरूरत हो, तो सब उन्हींको दे डालिए; यदि उन्हें भी इनकी जरूरत न हो, तो ये सब अपनेआप ही दुनिया में अपने लिए जगह ढूँढ लेंगी। आपके समान पति की पत्नी होकर भी

मैं, मैत्रेयी, आपके संसार से विरक्त होजाने पर आपके पीछे यहाँ पड़ी-पड़ी मिट्टी के इन टुकड़ों में अपने मन को लुभाये रहूँ, यह मेरे लिए शोभास्पद होगा क्या? साधारण ब्राह्मण का हाथ पकड़नेवाली ब्राह्मण स्त्रियाँ भी जब संसार की साधारण वस्तुओं से ऊपर उठकर त्याग और तपस्यापूर्वक गरीबी में अमीरी का सुखानुभव करती हैं, तो मैं तो आपके समान ब्रह्मवेत्ता की भार्या हूँ। यह हो नहीं सकता कि आप मुझे पत्थर के ये टुकड़े देकर चले जायं। मैं आपकी धर्मभार्या हूँ, अतएव आपके उच्च जीवन में भी मेरा भाग है। जो पुरुष स्वार्थवश अपनी भार्या को दुनियादारी के जंजाल में फंसाकर स्वयं मोक्ष पाने की आशा रखते हैं, वे अनुचित करते हैं। देव! आपका हाथ पकड़ने के बाद भी यदि इन वस्तुओं का मोह न छूटा तो वह मेरा दुर्भाग्य ही होगा! पतिदेव। आप मुझे ऐसा ज्ञान दीजिए, जिससे मैं इस संसार के रागद्वेष से मुक्त होकर उच्च जीवन को अंगीकार कर सकूँ। बस यही मेरा उत्तराधिकार है। दूसरा सब आप मेरी बहन कात्यायनी को सहर्ष दे डालिए। उस विरासत पर से मैं अपना अधिकार उठा लेती हूँ।"

मैत्रेयी के इन वाक्यों को सुनकर याज्ञवल्क्य बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे आत्मज्ञान दिया और मोक्ष का मार्ग उसके लिए खुला कर दिया।

६

धर्म व्याध

"भद्र खटिक ! आज तुम्हारे चरणों में अपना सिर रखकर मैं कृतार्थ होता हूँ।" कहते-कहते कौशिक ने खटिक के चरण छुए और अपने आँसुओं से उसके पैर धोये।

खटिक ने कहा : "अरे, महाराज ! आप यह क्या करते हैं ? खड़े होइए, खड़े होइए। आप ब्राह्मण हैं, अत: अकेले मेरे ही लिए नहीं सारे संसार के लिए वन्दनीय हैं। आपको नहीं, बल्कि मुझे आपके चरणों में मस्तक झुकाना चाहिए।"

कौशिक धीरे-धीरे सिर उठाते हुए बोला : "भाई ! एक दिन था, जब मैं अपनेको ब्राह्मण मानता था और आशा रखता था कि समूचे संसार को मेरे चरणों में मस्तक झुकाना चाहिए। आज वह अस्त हो चुका है। मैं तो नामधारी ब्राह्मण हूँ; सच्चे ब्राह्मण तो तुम हो।"

खटिक बोला : "महाराज कौशिक ! आप इतने निराश न हूजिए। निराशा का कोई कारण नहीं है।"

कौशिक ने जवाब दिया : "भाई, तुम्हारे मुँह से तो यही शोभा देता है। लेकिन जिसने अपनी एक भी इन्द्रिय पर अधिकार पाने का प्रयत्न नहीं किया, जिसके हृदय में नाना प्रकार के विष भरे हुए हैं, स्वार्थ को छोड़ जिसका अन्य कोई व्यवसाय नहीं, झूठ बोलना, दूसरों को ठगना, जहाँ-तहाँ झगड़ना और झगड़ा मचवाना, दूसरों की हानि होते देखकर हर्षित होना, दूसरों के अवगुणों का पता लगाना और अवसर पाकर उन अव-

गुणों से लाभ उठाकर उन्हें डराना—धमकाना, यही सब जिसके व्यवहार का नित्यक्रम हो बैठा है, जो ऊपर से साधुता का वेश धारण करके भी अंदर-अंदर भोगविलास में अजर-अमर की तरह रत रहता है, ऐसे प्राणी को मैं ब्राह्मण किस प्रकार मानूँ ? भाई ! तुम नहीं जानते कि मेरे इस साधुवेश की आड़ में कैसा शैतान छिपा हुआ है ?"

खटिक ने कहा : "मैं जानता हूँ।"

कौशिक ने विरोध किया। वह बोला : "नहीं, भाई ! तुम नहीं जानते। और माना कि तुम जानते हो, तो भी मैं सारी बात फिर से तुम्हें कहना चाहता हूँ, जिससे मेरा दिल कुछ हलका हो। जिसपर प्रभु की कृपा होती है, उसीको तुम्हारे समान पवित्र आदमी के सामने दिल खोलकर बात करने का सुयोग मिलता है। मुझे अपनी रामकहानी कहने दो। अन्यथा मेरा हृदय इतना भारी हो उठा है कि उसे हलका न किया तो टूक-टूक होजायगा।"

खटिक बोला : "महाराज ! अगर ऐसी बात है, तो मैं आपकी कहानी सुनने को तैयार हूँ। आप सामने खटिया पर बैठ जाइए, जिससे बात करने में सहूलियत हो, और मैं यहाँ बैठा सब सुनता हूँ।"

कौशिक ने कहा : "भैया ! वह आसन मेरा नहीं तुम्हारा है। अधिकारी ही वहाँ बैठ सकता है। आजतक न जाने कितनी बार ऊँचे आसन पर बैठकर धर्मोपदेश किया है। लेकिन आज तुम्हींने मुझे सिखाया है कि एक मामूली से मामूली आदमी की तुलना में भी मेरा आसन कितना नीचा होना चाहिए। अतः मैं खटिया पर नहीं बैठूँगा। अगर तुम खटिया पर बैठो तो तुम्हारे चरणों के निकट बैठकर बात करने में मुझे प्रसन्नता होगी।"

"अच्छी बात है; जैसा आपको ठीक जँचे। मैं यहीं बैठा हूँ। मगर

मेरी एक छोटी-सी माँग है। आप जानते हैं, मेरा व्यवसाय कितना कठिन है; अतएव कृपा होगी यदि अपनी बात आप थोड़े में कह सुनायेंगे।"

कौशिक ने कहा : "बहुत अच्छा। कहानी तो सारे जीवन की सुनानी है। लेकिन आज थोड़ी ही कहूँगा; बहुत ही थोड़ी। जनेऊ धारण करने के बाद एक बार मैं तप करने गया था।"

खटिक बोला : "इसीमें ब्राह्मण की शोभा है। जिसके जीवनक्रम के आदि और अन्त में तपश्चर्या है, वही सच्चा ब्राह्मण है।"

"अभी तप पूरा भी न हुआ था कि इस बीच एक दिन मैं विश्राम के विचार से एक वृक्ष के नीचे जा बैठा। इतने में वृक्ष पर बैठी हुई एक चिड़िया ने मेरी देह पर बीट कर दी।"

खटिक ने हर्षित होकर कहा : "आप सचमुच बड़े भाग्यशाली हैं। जिस दिन अपने व्यवहार द्वारा हम पक्षियों में इतनी निर्भयता पैदा कर देंगे कि वे हमारे हाथ-पैर पर बैठकर दाना चुग जायँ और कन्धों पर बैठकर चहकने लग जायँ, उस दिन सचमुच मोक्ष के द्वार हमारे लिए खुल जायँगे। दुनियादारों की, बाल-बच्चेवालों की गोद जबतक बच्चों के मल-मूत्र से सनती नहीं, तबतक यह समझिए कि उनका जीवन व्यर्थ ही बीता। तपस्वियों की जटाओं में तो पक्षी अपने घोंसले बनाते हैं। अहा, चिड़िया के बीट करने पर आपको कितनी खुशी हुई होगी!"

कौशिक ने हाथ जोड़कर कहा : "भाई! अब तुम अपनी ही कहोगे, या मेरी भी सुनोगे? तुम्हारा एक-एक शब्द मेरे मर्म को भेदे जाता है। तुम अहोभाग्य की चलाते हो, जब कि मैंने उस चिड़िया को जलाकर खाक कर डाला!"

"क्या कहा?"

"ठीक ही कहा। मेरे समान पवित्र ब्राह्मण पर एक चिड़िया चिरक

दे और मैं उसे सह लूँ ? मैंने ज्योंही क्रोधभरी दृष्टि से ऊपर देखा, चिड़िया जलकर खाक हो गई !" कौशिक ने जवाब दिया।

खटिक बोला : "महाराज ! सचमुच मुझे आपपर दया आती है।"

कौशिक ने कहा : "दया आती है ? तुम मुझपर दया क्यों करते हो ? तुम्हें तो मुझसे नफरत होनी चाहिए। मुझे धिक्कारना चाहिए। मुझे अपने तप का अभिमान था। मैं चिड़िया की हिमाकत को सह न सका।"

खटिक ने कहा : "महाराज! आपने सचमुच बहुत ही बुरा किया।"

कौशिक ने कहा : "तिसपर भी उस दिन मैं बहुत खुश रहा। जब मैंने चिड़िया को जलते देखा, मुझे हर्ष हुआ, अपने तप में मेरा विश्वास बढ़ा। इसीका नाम अभिमान है। मेरे अभिमान का मुझे सच्चा खयाल करा देनेवाले तुम दो हो—एक वह देवी और दूसरे तुम ! तुम दोनों को मैं अपना गुरु मानता हूँ।"

खटिक ने कहा : "सच है। यह अभिमान ही हम सबको सर्वनाश के गहरे गर्त में डालता है। तिसपर विशेषता यह कि यह अभिमान हम सबको मधु सा मीठा लगता है।"

कौशिक बोला : "भाई ! मैं तुम्हें क्या बताऊँ ? वह मधु ही नहीं, अमृत से भी अधिक मीठा लगता है। खूबी यह है कि जिसे अपना अभिमान मीठा लगता है, वही दूसरे के अभिमान को कड़ुआ समझता है। भैया ! जिन दिनों मैं बच्चा था और मेरे पास-पड़ौस के धनिक लोग अपने धन का अभिमान करते थे, तब मुझे बड़ा गुस्सा आता था और मैं उन धनिकों को गधा समझता था। जब मैं बच्चा था और मेरे छोटे-छोटे साथी-संगी कुलीनों में खपकर झटपट अपनी सगाई करा लेते थे, मैं उन सबको मूर्ख कहकर चिढ़ाता था। अभिमान किस चीज का नहीं होता है ? रूप का होता है,

विद्या का होता है, शरीर-बल का होता है, तप का होता है और ज्ञान का भी होता है। अब मैं कुछ-कुछ समझने लगा हूँ कि साधारणतया जब मनुष्य में किसी बात की थोड़ी शक्ति आती है, तो उसके साथ ही उसमें उस शक्ति का अभिमान भी पैदा होता है।"

खटीक ने कहा : "इसीलिए तो शास्त्रों में कहा गया है कि शक्ति प्राप्त करने से पहले शक्ति का उपयोग करने की पात्रता पा लेनी चाहिए। जो सच्चे गुरु होते हैं, वे इसी कारण अनधिकारी शिष्य को कभी विद्या सिखाते ही नहीं।"

कौशिक बोला : "भैया खटीक ! आज तो मुझे भी यह सब दीपक की भांति साफ दिखाई पड़ता है। पर उन दिनों तो मेरी आँखों में नशा छाया हुआ था। उस दशा में मैं एक चिड़िया का चिरकना कैसे सह पाता ?"

खटीक ने पूछा : "अच्छा, तो फिर क्या हुआ ?"

कौशिक ने जवाब दिया : "मेरे पैरों में दुगुना जोर आ गया। अभिमान भी एक तरह का नशा ही न है ? मैंने मान लिया कि जिस तरह चिड़िया जली है, उसी तरह दूसरे भी जल मरेंगे। यह सोचकर मैं उस महिला के गांव में भीख माँगने पहुँचा। उसके घर जाकर मैंने दरवाजा खटखटाया और कहा, **"भवति भिक्षां देहि।"**

खटीक ने पूछा : "वह घर में थी क्या ?"

कौशिक ने कहा : "हाँ, उसने तुरन्त ही अन्दर से जवाब दिया : 'महाराज ! ठहरिए। मैं बरतन मल रही हूँ। जरा मल चुकूँ, तो आपको भिक्षा दूँ।' "

खटीक ने पूछा : "फिर ?"

कौशिक ने जवाब दिया : "फिर तो फिर ही रहा। मैं भिक्षा की

आशा से घण्टों उसके दरवाजे पर खड़ा रहा। खड़े-खड़े मेरे पैर दुखने लगे। मेरा जी उकताने लगा। पर वह देवी बाहर नहीं आई। मैंने कई बार दरवाजा खटखटाया, कई बार भिक्षा की पुकार मचाई, बार-बार पैर पछाड़े, कई बार अधीर होउठा, पर वह न आई। और जब आई, तो उलटे मुझीको धमकाती हुई कहने लगी, 'महाराज! यह बेताबी क्यों? यह अधीरता कैसी? क्या मुझे भी आपने पेड़ वाली चिड़िया समझ लिया है, कि आपकी लाल-पीली आँखें देखकर मैं जल मरूँगी?' "

खटीक ने कहा : "आपको भी अच्छी औरत से साबका पड़ा।"

"मैं चिड़िया को जलाकर ही उधर गया था। लेकिन जब उस देवी के सामने मेरी सारी शेखी हिरन हो गई, मेरा कोई बस न चला, तब तो दिल में यही खयाल आया कि बस मौत आजाय और मैं मर जाऊँ तो अच्छा। मैं अपनी सुध-बुध भूलकर खड़ा रह गया। मैं सोचने लगा : मेरे तप का वह प्रभाव कहाँ चला गया? मुझे सोचता देख वह देवी कहने लगी: 'महाराज! इधर आपने भिक्षा की पुकार लगाई, उधर मेरे पति भूखे-प्यासे बाहर से घर आये थे। मैं उनकी सेवा में लग गई और आपको भूल गई। मुझे माफ कीजिए। जब मैं अपने धर्म के पालन में लगी हुई थी, तब आप मुझपर रुष्ट हो रहे थे, यह देखकर दो कड़ी बातें मुझे कहनी पड़ी हैं। मैं जानती हूँ कि आप तपस्वी हैं; और एक चिड़िया को जलाकर इधर आ रहे हैं, सो भी मुझे मालूम है। लेकिन आपको अपने तप का अभिमान हुआ है। हम दुनियादार लोग जंगलों में जाकर तप नहीं करते; किन्तु परमात्मा ने हमें घर में रहकर तप करने का मार्ग बताया है। महाराज! अगर आप यह मानते हों कि घर में रहकर की हुई तपस्या जंगल की तपस्या से हलकी होती है, तो आप भ्रम में हैं। तप की बुद्धि से किया हुआ तप ही सच्चा तप है। फिर आप उसे घर में कीजिए, चाहे

जगल में कीजिए। महाराज! सच कहूँ? चिड़िया को जलाकर आपने अपना तप खो दिया है।"

खटीक बोला: "कौशिक! देवी ने आपको खूब आड़े हाथों लिया।"

कौशिक बोला: "कुछ पूछो मत भाई! उस समय तो बस यही हुआ कि धरती रास्ता करदे तो मैं उसमें समा जाऊँ। लेकिन फिर तो उस देवी ने अपना कथन समाप्त करते हुए कहा: 'महाराज! यदि आप कुछ विशेष जानना चाहें तो मिथिला जाइए वहां एक खटीक रहता है, उससे मिलिए। वह आपको सब विस्तार से समझावेगा।' देवी के इन वचनों को सुनकर मैं तुम्हारी टोह में घूमता-घामता यहां आया। भैया! पहली बार जब मैंने तुम्हें देखा, तुम हाथ में एक बड़ा-सा छुरा लिये मांस के टुकड़े काट रहे थे और अपने गाहकों को कुछ समझाते थे। मैंने सोचा: 'यह खटीक मुझे क्या समझायेगा?' फिर तो तुम मुझे अपने घर लेगये; घर में मैंने तुम्हारे परमेश्वरतुल्य माता-पिता के दर्शन किये, तुम्हें अपने माता-पिता की अनन्य सेवा करते देखा, और फिर जब तुम्हींसे यह सुना कि इस एकनिष्ठ सेवा के कारण ही तुम्हें बिना पढ़े-लिखे ही शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त हो गया है, तो मैं तो दंग रह गया! वैसे प्रकट में तुम सब मामूली जीवन बितानेवाले मनुष्य हो, पर तुम्हारा जीवन सच्चा धर्म-जीवन है। मेरे जैसे तपस्वी प्रतीत होनेवाले ब्राह्मण तप के बदले तप का ढोंग अधिक करते हैं, समाज को अपने जाल में फँसाते हैं, और अन्त में स्वयं बरबाद होजाते हैं।"

खटीक ने कहा: "महाराज! अब मेरा समय हुआ, मुझे जाना चाहिए।"

कौशिक बोला: "भैया, तुम खुशी से जाओ! तुमने मुझे सच्चे तप का दर्शन कराया है। अधिक तो क्या कहूँ, मैं तो आजतक शास्त्रों के

पीछे पड़ा था : शास्त्र-शास्त्र बका करता था। पर आज मैं समझा हूँ कि सच्चा शास्त्र तो तुम हो, और वह देवी है। जो लोग तुम्हारे सदृश लोगों के जीवन को पढ़ना जान लेते हैं, वेही सच्चे शास्त्री बन सकते हैं। भैया, अब तुम जाओ। मैं भी जाता हूँ। संसार के कोने कोने में छिपे-छिपे हुए इन मूक तपस्वियों के पुण्य से ही यह संसार अब तक टिका हुआ है।"

इतना कहकर कौशिक चल दिया और खटीक भी अपने माता-पिता की सेवा के लिए उनके सोने के कमरे की ओर चला।

७

राजा शिबि

बहुत बरसों पहले शिबि नाम का एक राजा था। एक बार वह अपनी यज्ञशाला में बैठा था कि इतने में एकाएक एक कबूतर उसकी गोद में आ पड़ा। कबूतर के बदन पर चोंच के जख्म थे, पंख उसके नुचे हुए थे, आँखें भय से विह्वल थीं, शरीर सारा थर-थर काँप रहा था, पैर सीधे खड़े न हो पाते थे। कबूतर ज्योंही चीं-चीं करके राजा की गोद में पड़ा, राजा ने उसे सँभाल लिया, उसपर ठण्डा पानी छिड़का, और फिर उसके पंखों पर हाथ फेरता हुआ उसे चूमने लगा।

इतने में सामने से कोई पुकार उठा : "राजन्! यह कबूतर मेरा है। तुम इसे मुझे देदो।" राजा ने सिर उठाकर जो देखा तो सामने पाट पर एक बाज बैठा नजर आया। बाज की आंखों में क्रूरता थी और आवाज में कर्कशता। अपने शिकार को इस तरह हाथ से निकला देख वह क्रुद्ध हो उठा था।

बाज की बात सुनकर कबूतर राजा की गोद में और भी छिप गया। राजा ने कहा : पक्षियों के राजा! मेरी गोद में आने से पहले तक यह कबूतर तुम्हारा था; अब मेरी गोद में आकर यह मेरा होगया है। जिस समय मेरी गोद छोड़कर यह उड़ जायगा, फिर स्वतन्त्र होजायगा।"

बाज से न रहा गया। उसने छूटते ही कहा : "राजन्! यज्ञशाला में बैठकर तुम ऐसी अधर्म की बात कैसे कहते हो? कबूतर तो हमारा कुदरती आहार है। ईश्वर ने हम बाजों के लिए ही इसे पैदा किया है।

अगर तुमने यह कबूतर मुझे न दिया, तो मैं और मेरे बाल-बच्चे भूखों मर जायँगे। फिर इसका सारा पाप तुम्हें लगेगा। जरा सोचो तो, इस एक कबूतर को बचाकर तुम दूसरे कितनों को मारोगे?"

राजा ने शान्तिपूर्वक कहा: "देखो भाई, बेचारा अभी तक तुम्हारे डर से काँप रहा है। मैं जानता हूँ कि कबूतर तुम्हारी खुराक है। लेकिन इस कबूतर को तुम छोड़ दो। मेरे महल में इसके अलावा दूसरे अनेक खाद्य-पदार्थ पड़े हैं; उनमें से तुम जो चाहो ले लो। तुम चाहो तो मैं तुम्हें और तुम्हारे बाल-बच्चों के लिए देश-विदेश के अनाज दूँ; देश-देशान्तर के मीठे और ताजे मेवे दूँ; तुम कहो तो सारी दुनिया की साग-सब्जी तुम्हारे लिए हाजिर कर दूँ; तुम चाहो तो दुनिया भर के अच्छे अच्छे फूल और फल तुम्हारे लिए मँगा दूँ; लेकिन यह कबूतर तुम्हें कदापि न दूँगा। बाज! तुम में तनिक भी दया होती, तो तुम इन गरीब प्राणियों को कभी न मारते!"

शिबि की ये बातें सुनकर बाज ने हँसते-हँसते कहा: "मानवराज! पृथ्वीपति होकर भी तुम यह क्या कहते हो? जरा अपने इन भाईबन्दों की ओर देखो! पेटभर खाने को मिल जाने पर भी ये अकारण ही शिकार खेला करते हैं। क्या ऐसे आदमियों को अधिकार है कि वे अपने मुँह से दया का नाम लें? राजन्! दुनिया के सभी प्राणी पेटभर खाने के बाद ही दया और धर्म की बातें कर सकते हैं। तुम खा-पीकर और तृप्त होकर जो कुछ कहते हो, उसे मैं भूखे पेट क्योंकर सुनूँ? अतएव यह कबूतर तुम मुझे दे दो; अपनी भूख बुझा चुकने पर मैं तुम्हारे धार्मिक प्रवचन सुनने आजाऊँगा।"

बाज की इन मर्मस्पर्शी बातों को सुनकर राजा सजग हो उठा। वह तनकर बैठ गया और बोला: "पक्षीपति! मैं क्षत्रिय पुत्र हूँ। वैसे तो

तुम न जाने कितने कबूतरों को मारकर खाते होगे; मैं कभी तुम्हें मना करने नहीं आता। पर आज यह कबूतर मेरी शरण में आया है, इसलिए मैं इसे तुम्हें न दूँगा। शरण में आये हुए प्राणी को बचाने के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपनी जान तक दे देना हमारा धर्म है। क्षत्रिय इसके पालन में नहीं चूकते। यदि शिबि इस धर्म का त्याग करेगा, तो उसका जीवन तीन कौड़ी का भी न रहेगा—तब तो वह जिन्दा भी मुर्दा ही कहलायेगा।"

बाज ने बड़ी चालाकी से काम लिया। वह बोला : "महाराज! शिबि क्षत्रिय है, तो इसमें मेरा और मेरे बच्चों का कोई कसूर? क्या शिबि अपनी क्षत्रियता की रक्षा मुझे और मेरे बच्चों को मारकर ही कर सकता है? राजन्! तुम मेरे लिए अपने सारे भण्डार खुले छोड़ने को तैयार हो, तो फिर उन्हें अपनी गरीब प्रजा के लिए क्यों नहीं खुले छोड़ देते, जिससे तुम्हारा क्षत्रियत्व अपनी चरमसीमा को पहुँच सके। दो पंखों वाले एक छोटे-से कबूतर को बचाने में कौन बड़ा क्षत्रियत्व है?"

राजा क्षणभर को क्षुब्ध हो उठा; पर दूसरे ही क्षण शान्तभाव से बोला : "पक्षीपति! क्षत्रियत्व कोई ऐसी-वैसी व्यापार की वस्तु नहीं जो हमारी-तुम्हारी तराजू में तौला जा सके। इन बातों को तौलने की तराजू तो भगवान ने भक्तों के हृदय में ही लगाई है। मैं किसी भी दशा में तुम्हें यह कबूतर न दूँगा। इसके बदले तुम दूसरा जो भी आहार माँगोगे, मैं देने को तैयार हूँ।"

बाज राजा के कुछ समीप जाकर बैठ गया और बोला : "राजन्! इस कबूतर का रक्त-मांस जितना मीठा है, वैसा मीठा रक्त-मांस तुम मुझे कहांसे दोगे? हाँ, तुमने बहुत बड़े-बड़े यज्ञ किये हैं, इससे कदाचित् तुम्हारा रक्त-मांस मीठा हो सकता है।"

राजा ने तुरन्त कहा : "तो मैं अपनी सारी देह तुम्हें देने को तैयार हूँ। भले पंछी ! तुमने अच्छा तोड़ सुझाया।"

बाज फिर हँसा और बोला : "राजन् ! तुम अपनी देह दोगे तो, लेकिन उसे मैं ले कैसे सकता हूँ ? तुमपर तुम्हारी सारी प्रजा का आधार है। वर्णाश्रम धर्म के तुम रक्षक हो। इस कबूतर जैसे अनेक दीन-दुखियों के तुम सहारे हो। भला यह कैसे होसकता है कि मैं इन सबके इतने बड़े आधार को नष्ट कर डालूँ ? और राजन् ! तुम भी कैसे हो, जो एक मामूली-से कबूतर के लिए अपना त्रिलोकव्यापी राज्य, अपनी भरी जवानी और यह सुन्दर सुशोभन देह यों दे डालने को तैयार हुए हो ? मुझे तो तुम एक ही मूर्ख नजर आते हो।"

राजा ने हँसते-हँसते कहा : "पक्षीराज ! तुम सच कहते हो। बरगद की रक्षा का आग्रह करनेवाले लोग मूर्ख होते हैं। जो सयाने होते हैं, वे तो प्रायः बरगद-जैसी किसी चीज को मानते ही नहीं; कभी मानते भी हैं तो मौका पड़ने पर उसका त्याग करने में आगा पीछा नहीं देखते। दुनिया का काम ऐसे सयानों के बल ही चलता है। तुमने जिस सचाई के साथ बात कही, वैसी शायद ही कभी कोई कहता है। सच न कहना भी तो सयानेपन की एक निशानी है ? पर भाई ! तुम बड़ी देर के भूखे हो। लो, मुझे खाना शुरू करो ! तुम खाते चलो और हम बातें करते चलें।"

बाज फिर हँसा और बोला : "धन्य है, शिबिराजा धन्य है ! पर आपको अपने क्षत्रियत्व की टेक है, तो मुझे भी अपने पक्षी होने की टेक है। मेरा अधिकार उतने रक्त मांस पर है, जितना कबूतर में हो सकता है। मैं तुम्हें योंही खाना शुरू न करूँगा। तुम मुझे इस कबूतर के जितना रक्त-मांस अपने शरीर से काटकर तौलदो। मैं उसे ले जाऊँगा और अपने बाल-बच्चों के साथ बैठकर खाऊँगा।"

बाज के इन वचनों को सुनकर राजा ने तुरन्त यज्ञशाला में तराजू मँगाई, एक बड़ी-सी छुरी लाने को कहा, मांस तोलनेवाले को बुलाया और फिर हलके-हलके अपनी देह को काटना शुरू किया। तराजू के एक पलड़े में कबूतर बैठा, दूसरे पलड़े में राजा ने अपना दाहिना पैर काट कर रक्खा।

ज्योंही राजा ने अपना दाहिना पैर चढ़ाया और तौलनेवाले ने तराजू थामकर तौला कि बाज पुकार उठा : "राजन्! अभी तौल बराबर नहीं हुआ। वह देखो कबूतर वाला पलड़ा तो अभी जमीन पर ही टिका है।"

राजा ने फौरन ही अपना बायाँ पैर काटकर पलड़े पर चढ़ा दिया। पलड़ा फिर न उठा। बाज फिर बोला : "राजन्! अब भी थोड़ा कम है। यह कबूतर तो बड़ा वजनी निकला!"

इसके बाद तो राजा ने अपनी दाहिनी और बायीं दोनों जाँघें चढ़ा दीं, तो भी कबूतर वाला पलड़ा न उठा। तब तो राजा स्वयं तराजू पर पूरा चढ़ गया, और बोला : "पंछीपति! मैंने तो पहले ही कह दिया कि मुझे खाना शुरू करो। पर तुम सुनो तब न! लो, अब तो तुम्हारी भी बात रह गई। आओ, खाना शुरू करो।"

राजा इस प्रकार कह ही रहा था कि इतने में आकाश से पुष्पवृष्टि हुई! यह देख लोग चकित रह गये, और राजा के सामने दो तेजस्वी देवता आ खड़े हुए।

"राजन्! तुम धन्य हो! आज अपने त्याग द्वारा तुमने तीनों लोकों को चकित कर दिया है। हम दोनों देवता तुम्हारी परीक्षा के लिए ही बाज और कबूतर बनकर आये थे। तुम जिसे सयानी, दुनिया कहते हो, निश्चय समझो कि सयानों की वह दुनिया भी तुम्हारे समान दीवानों और मूर्खों के प्रभाव से ही जीती है। मनुष्य तो आखिर

मनुष्य ही हैं, पर हम देवता भी ऐसी मूर्खता का पाठ सीखने के लिए तुम्हारे समान मनुष्यों की खोज में रहते हैं। राजन्! अब हमें बिदा होने दो।"

शिबि तराजू के पलड़े से नीचे उतरा, खड़ा हुआ और दोनों देवताओं को प्रणाम करके बोला : "प्रभो! मुझपर आपकी बड़ी कृपा हुई। कहिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?"

दोनों देवता चलने को हुए और जाते-जाते बोले : "राजन्! तुम्हारे समान साधु पुरुषों का अस्तित्व ही मानव-समाज की बड़ी से बड़ी सेवा है। इससे बढ़कर दूसरी सेवा क्या होसकती है कि तुम्हारे जीवन की सुगन्ध आस-पास सर्वत्र फैलती रहे?" इतना कहकर दोनों देवता चले गये - अन्तर्ध्यान हो गये।

८

व्यास और जैमिनी

जैमिनि व्यास भगवान के शिष्य थे। वे अपने आश्रम से पैदल चल कर प्रतिदिन व्यास जी के पास जाते और भारत की कथाएं सुनते।

एक बार किसी कथा के प्रसंग में भगवान् व्यास ने कहा : "पुरुष को अपनी सगी बहन के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए।"

जैमिनि से न रहा गया। वे तुरन्त ही प्रतिवाद कर उठे : "गुरो! आपका यह कथन यथार्थ नहीं है।"

व्यासजी ने कहा : "तुम्हारे-जैसों के लिए कदाचित् यथार्थ न हो, पर मानव-समाज के एक बहुत बड़े भाग के लिए यथार्थ है। मनुष्य स्वयं परमात्मा की संतान ही क्यों न हो, आखिर वह है तो मोम का ही पुतला न?"

बात जैमिनि के गले न उतरी : "महाराज! यदि ऐसा ही है, तो फिर धर्म, संयम, नाते-रिश्ते सब निरा पाखण्ड नहीं क्या? यह सोचकर कि संसार में कोई अपने मन पर अंकुश रख ही नहीं सकता, सबको एकान्त से सदा भयभीत रहना चाहिए क्या? आखिर स्त्री-पुरुष में ऐसी कौनसी अपवित्रता भरी है, कि जिससे एक-दूसरे को देखते ही उस अपवित्रता का विस्फोट होजाता है? यदि अन्त तक मनुष्य को ऐसा ही रहना है, तो फिर मानव कल्याण के सारे सपने व्यर्थ नहीं है क्या?"

व्यास भगवान् शान्ति-पूर्वक कहने लगे : "बेटा जैमिनी! तुम अभी जवान हो। ऊपर से बृहस्पति के समान प्रतीत होनेवाले

मनुष्य के हृदय में किस-किस प्रकार की आग कब-कब रहती है, कौन जानता है ? कामदेव के बाणों की एक अद्भुत विशेषता यह है कि मनुष्य जिस समय उन बाणों का शिकार होने लगता है, वह खुद तो अपने लिए यही सोचता है कि उसे न तो इन बाणों ने कभी छुआ है, न कभी छू सकेंगे। ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि के आदिकाल से मनुष्य को ऐसा ही रचा है, और प्रलयकाल तक मानव ऐसा ही रहने वाला है।"

जैमिनि असम्मति दर्शक सिर हिलाते हुए बोले : "गुरो ! आपका कथन कुछ अंशों में सत्य होसकता है। किन्तु यह कहना कि 'पुरुष को अपनी सगी बहन के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए' मनुष्य जाति पर अविश्वास ही नहीं, भीषण अविश्वास करना है। इस तरीके से तो हम मानव-जाति में कोई श्रद्धा ही न रख सकेंगे, और अपने रहे-सहे आत्मविश्वास को भी छिन्न-भिन्न कर डालेंगे।"

व्यास ने चर्चा का उपसंहार करते हुए कहा : "जैमिनि ! मैंने तुम्हारी अपेक्षा दो चौमासे ज्यादा बिताये हैं। मैंने मानव-जाति के सूक्ष्म भावों को निकट से समझने प्रयत्न भी किया है, इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि 'पुरुष को अपनी सगी बहन के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए।' तिस पर भी अगर कोई बैठना ही चाहता है, तो क्या व्यास उसे वहां हाथ पकड़ कर उठाने जायगा ? इस एकान्त सेवन में फिसलन है, और यह फिसलन इतनी मीठी होती है कि इसकी मिठास का मारा आदमी कब मुँह की खा बैठेगा और हड्डी-पसली तुड़ावेगा सो वह खुद देख नहीं सकता। जो इस पछाड़ से बचना चाहता है उसे तो इस फिसलन की मिठास का मोह छोड़ना ही पड़ता है। यह मेरा अकेले का अनुभव नहीं है, बल्कि उन अनेक साधु-संतों और ऋषि-मुनियों का भी

यही अनुभव है जिन्होंने अपना समूचा जीवन लोककल्याण करने में ही बिताया है।"

इस प्रकार कहते-कहते भगवान् व्यास ने कथा समाप्त की। जैमिनि अपने आश्रम की ओर जाते हुए मन ही मन कहने लगे : "मालूम होता है, बुढ़ापे के कारण आचार्य को अश्रद्धा ने घेर लिया है। क्या मनुष्य सचमुच इतना पतित है ? नहीं, नहीं।"

× × × ×

नर्मदा के तट पर जैमिनि मुनि का आश्रम था। नर्मदा का उन्मत्त प्रवाह मुनि की पर्णकुटी के चरणों को धोता हुआ निरन्तर बहा करता था। चारों ओर बरगद की सुहावनी जटाएं थीं, बीच-बीच में आम और बकुल के उपवन थे और उनके बीच में इधर-उधर झांकती हुई छोटी-छोटी झोंपड़ियां सुहाती थीं। सुनहले कमलों से सुशोभित छोटे-छोटे ताल आश्रम की रमणीयता में वृद्धि करते थे। और इन सबको व्याप्त करके समूचे आश्रम की शान्ति और पवित्रता विराजती थी।

एक बार रात का समय था। कोई बारह का अंदाज होगा; आश्रम-वासियों ने सुना, कोई आर्त्तस्वर से पुकार रहा है : "अरे मुझ निराश्रिता को कोई बचाओ !" पुकार की आर्त्तता में भी एक प्रकार की कोमलता थी। जैमिनि ने ज्यों ही इन शब्दों को सुना, तुरन्त अपने शिष्यों से कहा : "कोई है क्या ? बेटा, जाओ ! देखो दरवाजे पर कौन है।"

एक बटुक आंखें मलता हुआ उठा, आश्रम के दरवाजे तक गया और थोड़ी देर में लौटकर बोला : "महाराज ! कोई स्त्री है, और शेष रात के लिए आश्रम में रहना चाहती है।"

जैमिनि कुछ देर तक सोचते रहे। फिर बोले : "आश्रम का नियम तो नहीं है, पर खैर उसे आने दो। एक ही रात का न प्रश्न है ? यदि

हम दीन-दुखियों को आश्रय भी न दे सकें, तो फिर यह आश्रम कैसा ? जाओ, उस स्त्री को बुला लाओ और गोशाला वाले कमरे में उसे रात-भर के लिए टिका दो। यहाँ आश्रम में तो तुम सब ब्रह्मचारी सोये हुए हो, इसलिए उसे इस तरफ सुलाना उचित न होगा। कमरे को तुम जरा साफ-सूफ कर देना।"

इतना कहकर जैमिनि अपने बिस्तर पर उठकर बैठ गये। कुछ देर बाद बटुक उस स्त्री को लेकर उधर से निकला और गोशाला की तरफ चला गया। स्त्री को जाते देखकर जैमिनि ने फिर कहा : "बटुक, सुनो ! प्रबन्ध में कोई त्रुटि न रहे भला ! बहिन ! यहाँ सब ब्रह्मचारी सोये हैं, इसलिए आपको गोशाला में टिकाना पड़ा है; बुरा न मानियेगा।"

बटुक ने स्त्री के ठहरने का प्रबन्ध कर दिया और अपनी जगह पर आकर सो गया। दूसरे सब ब्रह्मचारी गहरी नींद में सोये पड़े थे। सारा आश्रम सो रहा था। केवल एक-दो व्यक्ति जग रहे थे : एक चन्द्रमा और दूसरे जैमिनि।

जैमिनि फिर उठ बैठे और सोचने लगे : "नींद एक बार उचटी की फिर उचटी ही उचटी। मगर इस ब्रह्मचारी को देखो, अभी सोया है, पर ऐसा मालूम होता है मानो जागा ही न हो ! व्यास भगवान् प्रायः कहा करते हैं कि बिछौने में पड़े-पड़े करवटें बदलते रहना अच्छा नहीं। लेकिन अगर पड़े-पड़े परमात्मा का स्मरण किया जाय तो ? लेटे-लेटे शास्त्रों का मनन किया जाय तो ? व्यास भगवान् की यही बात समझ में नहीं आती। आखिर वे ऐसे जड़ता बढ़ानेवाले नियम बनाते क्यों हैं ? वे यह क्यों नहीं कहते कि बिस्तर में लेटे-लेटे भी सत्कार्य किये जा सकते हैं और सत्कार्य न सूझें तो सोचकर निकाले जा सकते हैं ? लेकिन वे तो सौ बात की एक बात यही कहते हैं : "नहीं, किसी भी दशा में बिस्तर में

पड़े न रहो !' खैर, यह भी अच्छा ही है। जब मुझे नींद नहीं आरही है, तो चलूँ एक चक्कर आश्रम का ही लगाऊँ। उस आगन्तुक स्त्री को गोशाला में सुलाया है, उसकी सुख-सुविधा की पूछ-ताछ भी कर आऊँ। बटुक तो आखिर बटुक ही ठहरा। भले आदमी ने लौटकर कहा भी नहीं कि अतिथि के लिए क्या प्रबन्ध किया है !"

यों सोचते-विचारते जैमिनि बिस्तर छोड़कर खड़े होगये और हाथ में दण्ड लेकर गश्त पर निकल पड़े। उन्होंने गहरी नींद में सोये हुए सभी ब्रह्मचारियों को एक निगाह देखा; कुछ के वस्त्र अस्तव्यस्त हो गये थे, उन्हें ठीक करके अच्छी तरह ओढ़ा दिया; एक ब्रह्मचारी अपने बिछौने से दूर हटकर सो रहा था, उसे फिर बिछौने पर सुलाया; और फिर चलते-चलते गोशाला के पास पहुँचे। गोशाला में जाकर कामधेनु को देखा और उसे खोलकर चरने के लिए छोड़ दिया। वहाँसे कुछ दूर गये; फिर लौटे, और गोशाला के कमरे से काफी दूरी पर खड़े होकर बोले : "बहिन, बहिन ! आपके सोने-बैठने का सब प्रबन्ध तो हो गया है न ?"

स्त्री ने जवाब दिया : "जी, महाराज !"

जैमिनि सारे आश्रम का चक्कर लगाने के बदले वहींसे लौट आये और बिछौने में आकर पड़ रहे। लेकिन नींद न आई। इतने में आश्रम के भण्डार में बिल्ली ने दूध का बरतन गिरा दिया, जिसकी बड़ी झन-झनाहटभरी आवाज हुई। जैमिनि तो अभी जागते ही थे। सोचने लगे : "मालूम होता है, बिल्ली गोशाला के छप्पर पर चढ़कर चूहे पकड़ने चली है। बेचारी उस स्त्री को वैसे ही गोशाला के जीव-जंतु सता रहे होंगे; तिसपर यह खड़खड़ाहट ! इन बिल्लियों के मारे तो आश्रम में रहना मुश्किल होगया है।"

यह सोचकर हाथ में डण्डा लिये जैमिनि फिर गोशाला के पास पहुँचे, और डण्डे की आवाज करते हुए बोले : "बहन ! नींद में हो क्या ? लेकिन बिल्ली की यह खड़खड़ाहट तुम्हें क्यों सोने देती होगी ? अब कुछ ही घण्टों का सवाल है; किसी तरह काटलो। पिछली रात का समय है— सबेरा होने में ज्यादा देर नहीं।"

अन्दर से जवाब मिला : "महाराज ! यहाँ बिल्ली नहीं है। हाँ, जब मैं आई, एक बिलाव यहाँ था। लेकिन उसे तो बाहर निकालकर ही मैंने दरवाजा बन्द किया है। आप क्यों इतनी चिन्ता करते हैं ?"

जैमिनि फिर अपनी पर्णकुटी में लौट आये और लेट गये। पहले वे दायीं करवट लेटे, फिर कुछ देर चित पड़े रहे, और फिर बाँयीं करवट से सोये। किन्तु योगनिद्रा का यह प्रयोग सफल न हो सका। वे सहसा उठकर बैठ गये। सामने पानी से भरा हुआ कमण्डल पड़ा हुआ था। उसपर निगाह ठहर गई। सोचा : "थोड़ा पानी ही पी लूँ; किसी तरह नींद त आये ! मालूम होता है, स्त्री को भी नींद नहीं आ रही। मैं दो बार गया, दोनों बार जागती मिली। जब तुम्हें अपनी पर्णकुटी में नींद नहीं आती, तो उसे गोशाला में कैसे आ सकती है ? वहां गायों के बदन पर रहने वाली जूँ होंगी, गोचड़ होंगी, दूसरे अनेक जीव-जन्तु होंगे; चींटियाँ होंगी, चींटे होंगे। बिना जूँओं और चींटियोंवाली अपनी शय्या जब मुझे काट-सी रही है, तो उसकी क्या दशा होती होगी ? जब जाग ही रहा हूँ, तो उधर का एक चक्कर और क्यों न लगा आऊँ ?"

जैमिनि फिर उठे। और गोशाला के दरवाजे की साँकल खटखटाते हुए बोले : "बहन ! बहन ! आप सुख से तो हैं न ? कोई तकलीफ तो नहीं ?"

अंदर से जवाब मिला : "महाराज आप अभी तक सोये नहीं ? मैं

कैसी अभागिनी हूँ, जो मेरे कारण आपकी सारी रात खराब हुई। मुझे यहाँ कोई दुःख नहीं। आप क्यों बार-बार कष्ट उठाते हैं?"

जैमिनि ने कहा : "इसमें कष्ट क्या है? अतिथि का स्वागत करना तो हम ऋषि-मुनियों का धर्म ही है। आपको कोई कष्ट हो, तो कहियेगा— शरमाइयेगा नहीं। इसे अपना ही घर समझिए।"

स्त्री ने कहा : "बहुत अच्छा।"

जैमिनि बड़े यत्न के साथ गोशाला से वापस आये, किन्तु पर्णकुटी वाली अपनी शय्या पर न पौढ़े। वे पर्णकुटी के पासवाले दालान में इधर से उधर चक्कर काटने लगे। इतने में फिर खयाल आया : "पता नहीं, बटुक ने इस स्त्री को बिछौना दिया है या नहीं? कैसा बेवकूफ है, मुझसे पूछा तक नहीं कि कौनसा बिछौना दूँ। गँवार ही जो ठहरा! क्यों न मैं खुद ही जाकर पूछ लूँ? लेकिन पूछने की जरूरत ही क्या है? निश्चय ही कोई बिछौना नहीं दिया गया है। अतएव चलूँ, अपना बिछौना उठाकर दे आऊँ।"

यह सोचकर जैमिनि ने अपनी योगशय्या को समेटकर कन्धे पर डाला और कमरे की ओर चले।

"बहन! बहन! दरवाजा खोलो। मुझसे बड़ी भूल होगई है। तनिक दरवाजा खोलो।"

"मुनि महाराज! आपकी भूल? कैसी भूल? आपसे कोई भूल नहीं हुई। आप निश्चिंत होकर सोजाइए।" स्त्री ने कहा।

जैमिनी बोले : "सो नहीं चलेगा। आप दरवाजा खोलिए। मालूम होता है, उस पगले बटुक ने आपको जमीन पर सुलाया है। मैं बिछौना लाया हूँ। इसे ले लीजिए और किवाड़ भेड़ लीजिए।"

"महाराज !" स्त्री ने कहा, "आपके बटुक ने मुझे जो बिछौना दिया है, वह बहुत अच्छा है। मुझे दूसरे बिछौने की जरूरत नहीं।"

जैमिनि ने कहा : "जरूरत न हो, न सही; आप एक बार दरवाजा तो खोलिए। क्या आप हमें अतिथिधर्म से गिराना चाहती हैं? कृपाकर किवाड़ खोलिए।"

स्त्री ने साफ इन्कार करते हुए कहा : "महाराज ! रात का वक्त है, मैं अभी किवाड़ नहीं खोलूँगी। मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

जैमिनि संतप्त हो उठे। अतिथि का यह हठ उन्हें अधर्म प्रतीत हुआ। वे अपना बिछौना दरवाजे के पास रखकर चल दिये। मन उनका अशान्त था। वे खुद भी नहीं जानते थे कि वह क्यों अशान्त था। अब तो जैमिनि स्वयं कमरे के पास वाले एक पेड़ पर चढ़े, पेड़ की कुछ डालियाँ तोड़ डालीं, फिर पेड़ पर से कमरे के छप्पर पर जा चढ़े और किसीको कानोंकान खबर न हो, इस तरह गुपचुप छप्पर के खपरे हटाने लगे और खपरों के नीचे की खपच्चियों की डोरियाँ खोलने लगे। उनके सिर पर चन्द्रमा चमक रहा था; नीचे कमरे में स्त्री सोई हुई थी। ज्योंही खपच्चियाँ छूटीं, जैमिनि बिल्ली की तरह दबे पैरों नीचे कमरे में उतरे। उतरकर चाँद की चांदनी में उन्होंने वहाँ जो देखा, उसे देखकर वे अपनी सिट्टी भूल गये। एक पुरुष उनके सामने खड़ा था। पहाड़ी शरीर, स्नायुओं से पुष्ट हाथ-पैर, विशाल छाती, सफेद व लम्बी दाढ़ी और सिर पर जटा।

जैमिनि अचानक अकचकाकर बोल पड़े : "महाराज व्यासजी ! आप यहाँ कैसे?"

व्यास ने पूछा : "बेटा ! तुम यहाँ कैसे?"

जैमिनि नीची आँखें किये वहीं मारे शरम के गड़े-से रह गये। व्यासजी तुरन्त अन्तर्धान होगये।

इसी समय मुर्गे ने बाँग दी और सभी ब्रह्मचारी जाग उठे। नित्य कर्म से निवृत्त होकर वेदपाठ करने लगे। जैमिनि धीमी चाल से कमरा छोड़ बाहर आये। कामधेनु खूँटे के पास खड़ी थी, उसे फिर खूँटे से बाँध दिया।

९

जीवन-विद्या

प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जड़ और बुड़िल, ये पांचों पंडित सहस्र-सहस्र शिष्यों की शालाएं चलाते थे और अपनी संस्कारिता एवं ज्ञान के प्रभाव से बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। एक बार ये सब एकत्र होकर अपने-अपने गुरुकुलों का और अपने निजी जीवन का विचार करने बैठे।

विचार-विमर्श का आरंभ करते हुए प्राचीनशाल ने कहा : "हमने इन शिष्यों को एकत्र तो किया है, किन्तु जिस उच्च जीवन की बड़ी-बड़ी बातें हम इनके सामने करते हैं उस उच्च जीवन को हमने स्वयं किस हद तक अनुभव किया है?"

बुड़िल बोला : "भाई, मैं तो समझता ही नहीं कि उच्च जीवन किस चिड़िया का नाम है! जब-जब हम अपने आश्रमों में आत्मा, आत्म-बल, उच्च जीवन आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तभी तब मैं तो यही सोचा करता हूँ कि यह हमारा निरा ढोंग नहीं तो और क्या है?"

जड़ ने कहा : "इसे ढोंग कहना हो, ढोंग कह लो; दुहेरा जीवन कहना हो, दुहेरा जीवन कह लो; और आत्मवंचना कहना हो, तो आत्म-वंचना कह लो। मैं स्वयं वर्षों से उच्च जीवन और जीवन की आध्यात्मिकता की बातें करता आया हूँ। लेकिन वह आत्मा क्या चीज है, और अध्यात्मवाद कौन बला है, मैं बिलकुल नहीं जानता।"

सत्ययज्ञ ने समर्थन करते हुए कहा : "बस, मेरी भी यही दशा है। अपने जीवन-ध्येय को हम स्वयं नहीं जानते। इसमें संदेह नहीं कि हमारी

हालत ठीक उस अन्धे-सी है जो दूसरे अन्धे के पीछे चल रहा था ! फिर भी मैं तो उस अन्धे की-सी धृष्ठता के साथ ही सबको राह दिखाता हूँ और दिखाता रहूँगा।"

इन्द्रद्युम्न ने सबकी बातें शान्ति से सुनीं और अन्त में कहा : "लेकिन इसमें निराश होने की क्या बात है ? आइए, हम सब ऐसे किसी महाशय के पास चलें जिन्हें जीवन का और आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो चुका है। हम उनसे प्रार्थना करेंगे कि वे हमें अपनी विद्या भलीभांति सिखा दें। बस, हमारे जीवन की यह त्रुटि भी पूरी होजायगी।"

बुड़िल ने कहा : "बिल्कुल ठीक है। जबतक हम इस विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते और अपने दैनिक जीवन में उसे ओत-प्रोत नहीं बना लेते, तबतक और सब व्यर्थ है। हमें इसके लिए किसी ज्ञानी के पास अवश्य जाना चाहिए।"

जड़ बोला : "ज्ञानी के पास चलने से मैं इन्कार नहीं करता; लेकिन ज्ञानी-ज्ञानी में भी तो अन्तर होता है। कुछ ज्ञानी ऐसे पुराण-प्रिय और वृद्ध होते हैं कि वस्तु को जानते हुए भी उसे अपने युग की भाषा में व्यक्त नहीं कर पाते। चूंकि ये ज्ञानी युगधर्म को नहीं पहचान पाते, अतः ये हमारे लिए निकम्मे हैं। दूसरे कुछ ऐसे ज्ञानी होते हैं, जो अपने युग को पहचानने का दावा तो करते हैं पर उनके ज्ञान की जड़ें गहरी नहीं होतीं। हमें तो किसी एसे समर्थ पुरुष के पास जाना चाहिए, जिसने इस विषय का सूक्ष्म बुद्धि से विचार किया हो और इस चीज को अपने जीवन में ताने-बाने की तरह बुन लिया हो।"

यह सुनकर प्राचीनशाल बोल उठा : "तब तो हमें उद्दालक ऋषि के पास ही जाना चाहिए। उन्हें छोड़ दूसरा कोई ऐसा नजर नहीं आता। वैसे तो कई वृद्ध ज्ञानी भी हैं, पर उद्दालक ऋषि युवकों से भी काम लेना

जानते हैं, इसलिए वही हमारे ज्यादा काम के होंगे। इन वयोवृद्ध ज्ञानियों का एक ही दुःख है। इनका सबसे बड़ा दोष यह है कि इनके पास नये जमाने की-सी तड़क-भड़क नहीं।"

बुड़िल ने कहा : "सच है। उद्दालक इस युग के आदमी हैं। अपने काम में निपुण हैं। उनके पास इस युग की भाषा भी है। चलो, हम सब उन्हींके पास चलें।"

फिर पाँचों पंडित उद्दालक ऋषि के पास पहुंचे। इन समर्थ ब्राह्मणों को अपने पास आते देखकर उद्दालक सोच में पड़ गये। ये समर्थ कुलगुरु मुझसे जीवन के और गुरुकुलवास के अनेक अटपटे प्रश्न पूछेंगे; इनके प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देने की शक्ति मुझमें कहाँ? यदि कहता हूँ : "मुझे पता है, मैं जानता हूँ; किन्तु आप लोगों से क्या कहूँ?" तो वह भी ठीक न होगा। अतएव क्यों न चर्चा शुरू होने से पहले ही मैं इनको कोई दूसरा मार्ग सुझा दूँ?"

यह सोचकर उद्दालक उठे और पाँचों पंडितों की अगवानी के लिए बढ़े। स्वागत-सत्कार के बाद बातों ही बातों में ऋषि ने पंडितों से कह दिया : "महाशयो! केकय राजा के पुत्र अश्वपति इस जीवन-विद्या को भलीभांति जानते हैं, अतएव आइए हम सब उन्हींके पास चलें। अच्छा हुआ जो आज आप इस प्रश्न को लेकर चले आये। मेरे मन में भी कई दिनों से आश्रम की संस्कारिता और ज्ञान के बारे में अनेक प्रश्न उठते रहे हैं।" यह कहकर उद्दालक ऋषि उन सबको अश्वपति के पास लेगये।

अश्वपति गादीपति भी थे। उन्होंने ज्ञान और विद्या में प्रख्यात अपने इन अतिथियों की पूजा की। फिर दूसरे दिन सवेरे नित्य कर्म से निपटकर धन की एक बड़ी राशि के साथ राजा इनके डेरे पर गये और

बोले : "महाशयो ! यह निधि मैं आप ही के लिए लाया हूँ। इसे आप स्वीकारिए और मुझे उपकृत कीजिए।"

किन्तु पंडितों ने उस धनराशि की ओर आँख उठाकर भी न देखा। उन्हें तो जीवन-विद्या की जरूरत थी। घर आये हुए अतिथि धन का स्पर्श भी नहीं करते, यह देखकर अश्वपति सोच में पड़ गये और कहने लगे : "महाशयो ! आप सब बड़े-बड़े कुलपति हैं। मैंने आपके चरणों में यह धन चढ़ाया है। किन्तु आप तो इसका स्पर्श भी नहीं कर रहे ! क्या आप मानते हैं कि मेरा धन भी दूसरे राजाओं की भांति अत्याचार और पाप द्वारा कमाया हुआ है ? महाशयो ! मैं आपकी सेवा में यह निवेदन किया चाहता हूँ कि मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कोई कंजूस है, न शराबी, न नास्तिक, न निरक्षर और न कोई व्यभिचारी ही है। अतएव मेरा यह धन शुद्ध है। आप कृपापूर्वक इसका प्रतिग्रह कीजिए।"

राजा के ऐसे वचन सुनकर ये विद्वान बोले : "राजन् ! आज हम आपके पास धन की इच्छा से नहीं आये। आजतक हम सब कई बार आपके पास आये हैं और आपसे अपनी आवश्यकतानुसार धन लेगये हैं। लेकिन आज हमारे आने का हेतु कुछ और ही है।"

अश्वपति ने पूछा : "आपका वह हेतु क्या है ?"

उद्दालक ऋषि बोले : "राजन ! आज हम आपसे जीवन-विद्या सीखने आये हैं। आप इतने बड़े राज्य के स्वामी होते हुए भी इस जीवन-विद्या के सच्चे ज्ञाता हैं।"

अश्वपति ने कहा : "महाराज ! जीवन-विद्या आपके आश्रमों और गुरुकुलों में होगी या मेरे जैसे राजा के महल में ?"

उत्तर में जड़ ने कहा : "महाराज ! जीवन-विद्या तो हमारे आश्रमों में ही होनी चाहिए। लेकिन आज हमारे आश्रम आश्रम नहीं रहे।

हमारे समान क्षुद्र लोगों ने आश्रम-जीवन के बाहरी रूप को तो बनाये रखा है; पर उसकी आन्तरिक सामग्री को हम आज खो बैठे हैं। हम जीवन-विद्या की भाषा में बोलते अवश्य हैं; पर उसका प्रभाव हमारी जीभ तक ही रहा है, उसके आगे नहीं। महाराज अश्वपति ! हम सब अनेक शास्त्रों के ज्ञाता हैं; कई कलाएं जानते हैं; बहुतेरी युक्ति-प्रयुक्तियों के प्रयोगकर्त्ता हैं; किन्तु जो सबसे बड़ा जीवनशास्त्र है, जो सबसे महान् जीवन-कला है, और जो सबसे श्रेष्ठ जीवन-युक्ति है, वह हमारे पास नहीं। अतएव विशालदेह होते हुए भी हमारे आश्रम हीनप्राण हैं; हमारे गुरुकुल चेतना-हीन हैं, हमारी विद्या निस्तेज है, और हमारा जीवन शुष्क है। महाराज ! हम इसी हेतु से आपकी सेवा में आये हैं।"

महाराज अश्वपति ने इन विद्वान् ब्राह्मणों की बात शान्तिपूर्वक सुनी। फिर बोले : "महाशयो ! इस प्रश्न का उत्तर मैं कल दूँगा।" इतना कह-कर अश्वपति अपने स्थान को गये। इधर ये छहों विद्वान् जब अकेले रह गये तो इस प्रकार चर्चा करने लगे—

एक ने पूछा : "अश्वपति ने हमें जीवन-विद्या सिखाना स्वीकार क्यों न किया ?"

दूसरे ने कहा : "हमने उनका धन नहीं लिया, कदाचित् यह उन्हें बुरा लगा होगा।"

तीसरा बोला : "नहीं जी, बुरा उन्हें नहीं लग सकता। अगर अश्वपति इस तरह बुरा मानने बैठेंगे, तो हमें जीवन-विद्या क्या खाक सिखायेंगे ?"

अन्त में उद्दालक बोले : "मेरे मन में एक शंका उठी है। आप लोग बुरा न मानें तो कहूँ ?"

सत्ययज्ञ ने कहा : "बुरा क्यों मानेंगे ?"

बुड़िल बोले : "इसमें बुरे का कोई प्रश्न ही नहीं।"

जड़ ने कहा : "जो है सो साफ-साफ कह डालिए।"

उद्दालक ने सहज भाव से कहा : "मैं सोचता हूँ कि अश्वपति से जीवन-विद्या सीखने का हमारा यह तरीका ही ठीक नहीं! हम सब एक-एक गुरुकुल के अधिपति हैं; अपने आश्रमों में जब हम शिष्यों को विद्या-दान देते हैं तो उनसे एक निश्चित प्रकार की नम्रता और विवेक की अपेक्षा रखते हैं। मेरे विचार में जब लौकिक विद्या के आचार्य के नाते हम इतनी आशा रखते हैं, तो महाराज अश्वपति हमसे कितने विनय की आशा रखते होंगे? हम तो एक साहूकार की भांति यहाँ चले आये हैं, और राजा से जीवन-विद्या की वसूली करना चाहते हैं। इस अलौकिक विद्या के इच्छुक में जैसी व्यग्रता और विनय होना चाहिए उसका शतांश भी हममें नहीं। इसलिए मैं सोचता हूँ कि शायद अश्वपति हमें जीवन-विद्या सिखायेंगे ही नहीं। यदि सचमुच हमें यह विद्या सीखनी ही हो, तो हमको विशेष नम्रता धारण करनी चाहिए।"

जड़ ने कहा : "मुझे भी आपकी बात जँचती है। मानव-जीवन की बहुमूल्य वस्तु प्राप्त करने के लिए हमें वैसी योग्यता भी दिखानी ही चाहिए। हमको महाराज अश्वपति के पास हाथ में समिध लेकर जाना चाहिए, और उन्हें इस बात का विश्वास करा देना चाहिए कि हम जीवन विद्या प्राप्त करने के वास्तविक अधिकारी हैं।"

बुड़िल ने कहा : "तब तो आज महाराज हमें ढूँढते हुए इधर आवें उससे पहले ही हमें उनकी शोध में निकल पड़ना चाहिए।"

सत्ययज्ञ बोला : "बस, चलो यह रही समिध।"

इस तरह की बातें हो रही थीं कि इतने में राजा अश्वपति स्वयं वहाँ आ पहुँचे और बोले : "महाशयो! आप कहाँ जाने को तैयार हुए हैं?"

ब्राह्मण बोले : "आप ही की सेवा में।"

अश्वपति ने कहा : "मैं तो स्वयं आपके पास आया हूँ।"

सबने निवेदन किया : "महाराज ! आप उच्चासन पर विराजिए और हमें कृपापूर्वक जीवन-विद्या का दान कीजिए, आप ही हमारे गुरु हैं।

अश्वपति बोले : "महाशयो ! अब आप जीवन-विद्या के अधिकारी हुए हैं। जो बात मेरे मन में थी, वही आपके मन में उठी, यह हमारा सौभाग्य है। अब मैं आपको जीवन-विद्या सिखाता हूँ।" यह कहकर अश्वपति ने छहों विद्वानों को जीवन-विद्या सिखाई और फिर सब अपने-अपने स्थान को चले गये।

१०

धनपति बनाम जीवनपति

प्राचीन भारत में जनश्रुति नामक एक राजा था। जनश्रुति का सदाव्रत का काम इतना विस्तृत माना जाता था कि उसकी ड्योढ़ी से कोई भिक्षुक भूखा लौटता नहीं था। नगर-नगर और गाँव-गाँव में भी लोग उसीकी रोटी खायें, इस विचार से उसने जगह-जगह आग्रहपूर्वक अन्नछत्र खोल दिये थे। ऋषि, मुनि, साधु, संन्यासी, बाबा, बैरागी, भिक्षुक, अतिथि, अभ्यागत, सभी कोई जनश्रुति का आतिथ्य पाकर सुखी होते थे और उसे अन्तःकरणपूर्वक आशीर्वाद देते थे।

एक बार राजा अपनी अट्टालिका पर बैठा था कि इतने में उसने कुछ हंसों को अपने सिर पर उड़ता हुआ देखा। हंसों में से एक हंस ने कहा: "अरे भल्लाक्ष! इस जनश्रुति राजा का तेज सूर्य भगवान् के तेज की भाँति सर्वव्यापी होरहा है। तू इस तेज से ठीक ठीक दूर रहकर उड़। यदि इसके तेज ने तुझे छू लिया तो तू जल मरेगा।"

भल्लाक्ष ने कहा: "भाई! मैं जानता हूँ कि जनश्रुति महान् दानवीर है। उसके अन्न का विस्तार सचमुच बहुत व्यापक है। लेकिन जहाँतक तेज का संबंध है, तुम्हारी बात जनश्रुति के लिए नहीं, गाड़ीवाले संत रैक्व के लिए अधिक उपयुक्त है। राजा जनश्रुति के तेज का यह वर्णन तो मुझे अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम होता है।"

भल्लाक्ष की बात सुनकर उसके साथी हंस ने पूछा: " यह गाड़ी-वाले रैक्व कौन हैं?"

मल्लाह ने कहा : "रैकव एक महापुरुष हैं। वह ऐसे महान् ज्ञानी हैं कि समूचे मानव-समाज के सत्कार्यों का सारा पुण्य उन्हें अकेले को मिल सकता है।"

राजा जनश्रुति ने जबसे हंसों की बातचीत सुनी, उसके मन में एक प्रकार की तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न होगई। सुबह उठते ही उसने अपने सारथी को बुलाया और कहा : "सारथि ! क्या तुमने गाड़ीवाले रैकव का नाम सुना है ? मैंने उन्हें देखा तो नहीं, पर उनकी प्रशंसा सुनी है। इसीलिए उनके दर्शनों की इच्छा प्रबल हो उठी है। तुम जल्दी जाकर उन्हें आदर सहित लिवा लाओ।"

सारथी ने कहा : "महाराज ! आपने प्रशंसा चाहे सुनी हो, लेकिन मैं तो नहीं मानता कि दुनिया में ऐसा भी कोई पुरुष हो सकता है जिसके दर्शनों के लिए आपको उत्सुक रहना पड़े। जानते हैं, आपके दान का तेज कितना है ?"

राजा ने कहा : "सारथि, तुम नहीं जानते। मुझे विश्वस्त रूप से पता चला है कि इन रैकव के तेज के सम्मुख मेरा तेज तुच्छ है। जाओ, उनका पता लगाओ और उन्हें शीघ्र मेरे पास लिवा लाओ।"

सारथी ने चकित होकर पूछा : "महाराज ! क्या आपसे भी अधिक तेजस्वी कोई है ? बात गले नहीं उतरती। फिर भी आपकी आज्ञा है तो अवश्य उन्हें लाऊँगा।"

फिर तो सारथी राजा का रथ लेकर नगर-नगर घूमा; राज-मार्गों पर घूमा; गली-कूचों में घूमा; महलों और मन्दिरों में घूमा, घरों और झोपड़ों में भी उसने रैकव का पता लगाया; पर कहीं किसीने रैकव का पता न बताया। अतएव सारथी थका-मांदा वापस आया और राजा से निवेदन किया : "महाराज ! मुझे तो रैकव कहीं दिखाई न पड़े। मैंने

सभी बड़े-बड़े नगरों को छान डाला, पर कहीं किसी जगह भी रैकव का पता न चला।"

जनश्रुति ने कहा : "सारथि! तुम कैसे हो? जरा अक्ल से काम लो। रैकव जैसे ब्रह्मवेत्ता शहरों की गन्दगी में मिलते हैं क्या? शहरों की इस दम घोटनेवाली हवा में ऐसे लोग कभी जी नहीं सकते। वे तो एकान्त अरण्य में ही मिल सकते हैं। तुम फिर जाओ और नागरिक जीवन की मानवी कृत्रिमता से दूर किसी एकान्त अरण्य में उनका पता लगाओ।"

राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके सारथी पुनः रैकव की तलाश में निकला। चलते-चलते शहरी भीड़-भाड़ से दूर एक निर्जन प्रदेश में जो पहुँचा, तो वहां अचानक एक गाड़ी के नीचे एक पुरुष को बैठा पाया। वह पुरुष वहां बैठा अपनी खाज को खुजला रहा था। दूर से उसे देखकर सारथी उसके पास पहुँचा, पहुँचकर नम्रतापूर्वक प्रणाम किया, चरण छुए, और बोला : "महाराज! क्या मैं मानूं कि गाड़ीवाले रैकव आप स्वयं ही हैं?"

रैकव ने कहा : "हाँ!" और फिर तुरन्त ही मुँह फेरकर वह खाज खुजलाने लगा।

आखिर रैकव मिल गये, यह जानकर सारथी को बड़ी खुशी हुई। वह रथ दौड़ाता हुआ राजा के पास पहुँचा और यह शुभ संवाद उन्हें सुना दिया।

अब राजा रैकव के दर्शनों की तैयारी में लगे। उन्होंने अपने साथ छः सौ गायें लीं, कण्ठ में पहनने का एक बहुमूल्य सोने का कण्ठा लिया, सुन्दर खच्चरों से युक्त एक रथ जुतवाया और रैकव के दर्शनों को चले।

रैकव मुनि तो उसी गाड़ी के नीचे बैठे खाज खुजला रहे थे। राजा

रैकव के सम्मुख उपस्थित हुआ। हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोला : "महाराज रैकव ! ये छः सौ गायें, यह सुवर्ण का हार और खच्चरों से जुता हुआ यह सुन्दर रथ. सब मैं आपके लिए लाया हूँ। आप इन समस्त वस्तुओं को स्वीकार कीजिए और जिस देव की उपासना आप करते हैं, उनकी उपासना का उपदेश मुझे भी दीजिए।"

रैकव ने राजा की इन बातों को सुना। सुनकर बिना मुँह उठाये ही राजा से कहा : "शूद्र ! ये गायें, यह हार और यह रथ, सब तेरे हैं। तुझीको ये मुबारक रहें। मुझे इनकी कोई जरूरत नहीं। मेरे लिए मेरी यह टूटी-फूटी गाड़ी बहुत है।"

रैकव के ये वचन सुनकर राजा ने सोचा : "कदाचित् मुनिवर की दृष्टि में यह द्रव्य कम रहा होगा, इसीलिए उन्होंने मेरी बात का ठीक उत्तर नहीं दिया।"

उस समय तो राजा वहाँसे लौट आया। किन्तु उसकी उत्कण्ठा तिल-मात्र भी कम न हुई। दूसरे दिन राजा एक हजार गायें, सोने का एक हार, खच्चरों वाला एक रथ और अपनी इकलौती कन्या को लेकर रैकव की सेवा में उपस्थित हुआ और सब कुछ ऋषि के चरणों में रख-कर बोला : "भगवन् ! यह सब मैं आपके लिए लाया हूँ। आप इसे स्वीकारिए। मेरी यह कन्या आपकी धर्मपत्नी बनकर रहेगी। जहाँ आप बैठे हैं, वह प्रदेश और उसके आस-पास के गाँव भी मैं आपही को अर्पण करता हूँ। आप इस सबको सप्रेम ग्रहण कीजिए और फिर मुझे अपना उपदेश दीजिए। मैं खाली हाथों उपदेश लेने नहीं आया हूँ।"

राजा की बातें सुनकर रैकव ने सहज भाव से सामने देखा; फिर राजा की गायों, हार, रथ और कन्या की तरफ एक नजर डाली और बोले : "शूद्र ! तू खाली हाथों नहीं, खाली हृदय से उपदेश ग्रहण करने

आया है। एक बार मैं तेरे इन उपहारों को अस्वीकार कर चुका हूँ, फिर भी तू इन्हींको लेकर आया है! जिस ईश्वरीय ज्ञान की इच्छा से तू मेरे पास आया है, क्या तू उसे खरीदना चाहता है? तेरी ये गायें, यह हार, ये खच्चर और रथ, और तेरा यह कन्या-रत्न तो क्या, सारे संसार का साम्राज्य भी तू मेरे चरणों में लाकर छोड़ दे, तो भी इस ज्ञान के लिए उतना मूल्य पर्याप्त न होगा। यदि तेरी जगह कोई दूसरा राजा होता, तो मैं उसे शाप देकर भस्म ही कर डालता। लेकिन मैं जानता हूँ कि तू पापाशय नहीं है, इसलिए मैं तुझे शाप नहीं दे रहा। राजन्! जो कुछ मैं जानता हूँ वही सब तुझे भी जानना हो, तो वह इन गायों, घोड़ों और रथों के अर्पण से नहीं जाना जा सकेगा। उसके लिए तो मनुष्य को अपना सर्वस्व दे देना पड़ता है। अपनेआपको दांव पर लगा देना पड़ता है। जबतक तू अपनेआपको बचाकर अपनी इस मानी हुई सम्पत्ति का दान करता है, तबतक यह सम्पत्ति तेरे हृदय को रोके रहेगी। फिर जो ज्ञान चाहता है, वह उस हृदय में उग नहीं सकेगा। जबतक मनुष्य के हृदय से अपने धन-वैभव का सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिमान भी नष्ट नहीं हो जाता, तब तक वह हृदय परमात्मा के निवासयोग्य बन नहीं पाता। यदि तू सचमुच ज्ञान पाना चाहता है, तो पहले अपनी इन गायों को लौटा दे, इस हार, रथ और कन्या को भी वापस भेज दे और इनके स्थान पर तू स्वयं अपनेआपको मेरे चरणों में अर्पण कर। वह तेरा सच्चा समर्पण होगा। जो लोग अपनेआपको बचाकर इस ईश्वरीय ज्ञान को पाने की चेष्टा करते हैं, वे न अपनी जात को बचा सकते हैं और न यह ज्ञान ही प्राप्त कर पाते हैं।"

रैक्व मुनि के इन वचनों को सुनकर राजा जनश्रुति उनके चरणों में गिर पड़ा, उनका शिष्य बना और अन्त में ज्ञान पाकर कृतार्थ हुआ।

११

मुनि महाराज

काशिराज ने कहा : "सेनापतिजी ! आपका कथन यथार्थ है। लेकिन मैं तो अब इन मुनि का नाम सुनते-सुनते थक गया हूँ। जब-जब आप स्वयं मुनि की और मुनि के आश्रम की बातें करते हैं, तब-तब उनमें धर्म और ब्रह्मचर्य की ऐसी ऊल-जलूल बातें होती हैं कि मुझे उनसे नफरत-सी होने लगी है। सेनापतिजी ! आप नहीं जानते मगर मैं मानता हूँ कि ये सारे ब्रह्मचारी और धर्मात्मा ब्रह्मचर्य का अथवा धर्म का ककहरा तक नहीं जानते।"

सेनापति ने विनयपूर्वक कहा : "महाराज ! हम ऐसा नहीं कह सकते। मुनि की और उनके आश्रम की कीर्ति देश के इस सिरे से उस सिरे तक पहुँची हुई है।"

काशिराज बोले : "मैं आपसे क्या कहूँ ? मैं मानता हूँ कि उम्र में आपसे दो साल शायद छोटा होऊं; लेकिन सेनापतिजी ! मेरा अपना अनुभव तो यह है कि जो लोग रात-दिन धर्म-धर्म, ब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य चिल्लाया करते हैं, वे ही सबसे बढ़कर अधर्मी और अनाचारी होते हैं। संसार में हर आदमी की अपनी कोई कीमत होती है। जबतक आप उसे वह कीमत नहीं चुकाते तबतक वह त्यागी रहता है, ब्रह्मचारी रहता है, सत्यवादी और धर्मी भी बना रहता है। जब आप उसे उसकी कीमत चुका देते हैं, तो फिर आप उसको खरीद सकते हैं, उसके त्याग को खरीद सकते हैं, उसके ब्रह्मचर्य को खरीद सकते हैं, उसकी आत्मा को खरीद

सकते हैं, और उसके धर्म को भी खरीद सकते हैं। जबतक हमें पता नहीं चलता कि इन सब नामधारी ब्रह्मचारियों और धर्मात्माओं की कीमत क्या है, तभीतक इन लोगों का पाखण्ड हमारे लिए एक रहस्य बना रहता है।"

सेनापति ने कहा : "महाराज ! आप ऐसे अविश्वासी कैसे बन गये ? आप तो ऐसी बातें करते हैं, मानो दुनिया में शैतान को छोड़ और कोई रहता ही नहीं।"

काशिराज बोले : "आप सच कहते हैं। शैतान ने सारी दुनिया को सर कर रक्खा है, और परमात्मा को अपने नीचे दबा रक्खा है। आप सच मानिए कि आश्रम के ये मुनिराज भी इसी शैतान के जेठे बेटे हैं। मैं मानता हूँ कि ये अविवाहित हैं। लेकिन मैं यह मानने को तैयार नहीं कि जो अविवाहित है वह ब्रह्मचारी भी है। अक्सर आदमी को विवाहित जीवन महँगा पड़ता है, और इसीलिए वह उससे बचना चाहता है।"

सेनापति ने हाथ जोड़कर कहा : "महाराज ! मुनिजी के संबंध में आपकी ये भ्रष्ट बातें मुझसे सही नहीं जातीं। सुनी भी नहीं जातीं। मुझे विश्वास है कि मुनिजी जन्म से लेकर आजतक ऊर्ध्वरेता रहे हैं। यदि आप निकट से उनके जीवन को देखेंगे तो आप भी इसके कायल हो जायेंगे।"

राजा ने जवाब दिया : "सेनापति जी ! बुरा न मानिए, मैंने ऐसे कई मुनि देखे हैं। लेकिन उनकी दाढ़ी और जटा की आड़ में मैंने प्राय: पाखण्ड को ही छिपा पाया है। ऊर्ध्वरेता रहना आप जितना समझते हैं उतना आसान नहीं है। ऊर्ध्वरेता तो वही रह सकता है जिसने अपने जीवन में अथ से इति तक घोर क्रान्ति कर डाली हो।"

सेनापति ने समझाते हुए कहा : "महाराज ! मालूम होता है, मुनि-

राज के बारे में आपको भ्रम होगया है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप उनकी कड़ी से कड़ी कसौटी कीजिए, ताकि आपको उनके बारे में विश्वास हो सके।"

काशिराज बोले : "सेनापतिजी ! यह करनेयोग्य काम नहीं। देह की वासनाओं को न जगाना ही अच्छा है।"

सेनापति ने कहा : "नहीं, नहीं ! आप एक बार परीक्षा करके देख ही लीजिए। अगर आपकी बात सच निकली तो मेरे जैसे बहुतों का भ्रम दूर हो जायगा, अन्यथा आपकी अश्रद्धा श्रद्धा में बदल सकेगी। आप एक बार अवश्य ही मुनि महाराज की परीक्षा लीजिए।"

सुनते ही राजा उछल पड़ा और बोला : "परीक्षा तो आज ही होनी चाहिए। अपने नगर की उस सुन्दरी को हमने आश्रम में भेजा नहीं कि परीक्षा हुई। आप उसे भेजवाने का प्रबन्ध कीजिए।"

"जैसी आज्ञा !" सेनापति ने कहा : "महाराज ! सुन्दरी को कुछ सूचनाएं देनी हैं क्या ?"

राजा बोले : "सुन्दरी को सूचनाएं क्या ? सूचनाओं का दूध पी-पीकर ही तो वह सुन्दरी बनी है। आप तो उससे सिर्फ यही कहिए कि "तुझे आज मुनि के आश्रम में जाना है और मुनि को दुनियादार बनाना है।" बस, बाक़ी सब कुछ वह समझ जायगी और अपनेआप सम्हाल लेगी। पर सेनापतिजी ! अब भी वक़्त है। मैं कहता हूँ, इस राह में पग न बढ़ाइए। बेचारे मुनियों को जानबूझकर प्रलोभन में डालना और जब वे प्रलोभन में फँस जायँ तब उन्हें बदनाम करना ठीक है क्या ? आप लोग सभी बारम्बार रट लगाये रहते हैं, इसलिए मुझे जो सूझा कह डाला है।"

सेनापति ने कहा : "महाराज ! आपकी बात साधारण मुनियों के लिए

सही हो सकती है। किन्तु मेरे विचार में यह मुनि तो एक असाधारण पुरुष हैं। पुरुष ही क्यों, मेरे लिए तो यह साक्षात् परमेश्वर ही हैं। आज ब्रह्मचर्य के समान सद्वस्तु में आपकी श्रद्धा नहीं रह गई है, इसलिए मैं आग्रहपूर्वक सुन्दरी को भेजवाना चाहता हूँ। मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि महाराज को अपने विचार बदलने होंगे।"

राजा ने कहा : "तो मैं आपका बहुत आभार मानूँगा।"

× × ×

यमुना के किनारे मुनि का आश्रम था। आषाढ़ महीने की अमावस्या की घोर अँधेरी रात; आसमान में घनघोर बादल उमड़े हुए थे, और रिमझिम-रिमझिम मेंह बरस रहा था। बीच-बीच में बिजली चमक जाती और बादल गड़गड़ा उठते। मुनि महाराज पर्णकुटी के पत्थर पर बैठे थे। इतने में उन्होंने सुना : "मुनि महाराज! मुनि महाराज। फाटक खोलिए। जंगल की इस घोर अंधेरी रात में मैं रास्ता भूल गई हूँ। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, कुछ समझ नहीं पड़ता। कृपा कर फाटक खोलिए।"

मुनि ने एक ब्रह्मचारी को जगाया और कहा : "बेटा! मालूम होता है, आफ़त की मारी कोई स्त्री पुकार रही है। जाओ, फाटक खोलो और देखो कौन है।"

ब्रह्मचारी आँखें मलता हुआ उठा और फाटक पर जाकर गरजा : "आधी रात को यह कौन है? किसलिए आया है?"

सुन्दरी ने कहा : "भैया! यह तो मैं रास्ता भूल गई हूँ। अँधेरे में कुछ सूझता नहीं, इसीलिए चिल्ला रही हूँ। ज़रा फाटक खोलो तो रात की रात मैं अन्दर रह लूँ और सुबह अपने रास्ते चल दूँ।"

ब्रह्मचारी बड़बड़ाया : "अभागिन कहीं की! ये कम्बख्त न जाने कहाँ से आ जाते हैं। हमें अपना अभ्यास भी नहीं करने देते। तुम्हें कुछ

सूझता भी है या निरी अन्धी हो। यह आश्रम है। इसमें औरतों का आना मना है। जानती नहीं हो, हम यहाँ सब ब्रह्मचारी रहते हैं ?"

सुन्दरी ने कहा : "भैया, इसे आश्रम जानकर ही तो मैं यहाँ आई हूँ। यहाँ मैं अपनेको निरापद और निर्भय समझती हूँ। भाई, ज़रा फाटक तो खोलो !"

ब्रह्मचारी ने आँखें तरेरते हुए कहा : "फाटक इस तरह नहीं खुला करता। क्या तुम आश्रम की मर्यादा को नष्ट करना चाहती हो ?"

सुन्दरी बोली : "भाई ! मैं आश्रम की मर्यादा मिटाने नहीं बल्कि उस मर्यादा को स्वयं समझने आई हूँ। भलेमानस, तुम फाटक तो खोलो ! आँखें क्या दिखाते हो ?"

ब्रह्मचारी बोला : "ठहरो, मैं गुरुजी से पूछकर आता हूँ।" और वह पूछने दौड़ गया।

मुनि ने पूछा : "क्यों बेटा ! कौन था ?"

ब्रह्मचारी बोला : "एक औरत है महाराज !"

गुरु ने पूछा : "वह क्या चाहती है ? उसे कोई कष्ट है क्या ?"

ब्रह्मचारी ने कहा : "जी नहीं; खासी मोटी-ताज़ी और बनी-ठनी है। उसे कष्ट क्या होगा !"

गुरु ने पूछा : "तो फिर चिल्लाती क्यों थी ?"

शिष्य बोला : "नदी बढ़ी हुई है और रात में रास्ता सूझता नहीं है, इसलिए वह रातभर यहाँ रहना चाहती है।"

मुनि ने कहा : "तो तुम उसके लिए फाटक खोल दो।"

ब्रह्मचारी बोला : "जी, मैंने तो उसे कह दिया है कि इस आश्रम में औरतों का प्रवेश मना है।"

मुनि बोले : "हाँ, हमारा यह नियम है तो। लेकिन कभी कोई आफ़त

का मारा आ जाय, तो उसे आश्रय देने से क्या हम इन्कार कर सकते हैं ? जब आश्रम बनाकर बैठे हैं तो हर कोई आशावान आ सकता है।"

गुरु की बात सुनकर ब्रह्मचारी अधीर हो उठा। बोला : "महाराज ! एक दिन एक नियम, दूसरे दिन दूसरा नियम ? आज तक यह आश्रम इसीलिए पवित्र रह पाया है कि औरतों को हमने इसमें आने नहीं दिया। मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि आपके हाथों यह पवित्रता आज इस तरह नष्ट हो। यदि आप रात के समय इस स्त्री को आश्रम में प्रवेश करने देंगे, तो मैं इस आश्रम को छोड़कर दूसरे किसी आश्रम में चला जाऊँगा।"

मुनि ने कहा :" ठीक तो है। तुम जाकर दरवाज़ा खोलो, ताकि वह स्त्री अन्दर आ सके और तुम बाहर जा सको। तुम्हें अपने जाने के लिए भी तो फाटक खोलना पड़ेगा न ? जाओ, फौरन जाओ।"

बड़बड़ाता हुआ, मन ही मन गुरु को और आगत स्त्री को बुरा-भला कहता हुआ, और मारे गुस्से के ऐंठता हुआ ब्रह्मचारी फाटक के पास गया। फाटक खोला। स्त्री अंदर आई। ब्रह्मचारी फाटक खुला छोड़कर उसके साथ गुरुजी के पास आया।

सुन्दरी ने पर्णकुटी के समीप पहुँचकर महाराज को प्रणाम किया। मुनि महाराज ने कहा : "बेटा ! इन देवी को हमारी गोशालावाली जगह में ले जाओ और वहाँ इनके सोने का प्रबन्ध कर आओ।"

ब्रह्मचारी सुन्दरी को गोशाला की ओर ले गया और दूर से अंगुली का इशारा करके बोला : "जाओ, वह जगह है, वहाँ सो रहो। सुबह उठकर अपनेआप चली जाना।" यों कहकर ब्रह्मचारी अपने निवास में जाकर सो गया।

कोई आध घण्टे बाद वह स्त्री गोशाला के बाहर आई और ब्रह्मचारी

के बिछौने के पास पहुँचकर कहने लगी : "भैया, ए भैया ! ज़रा जागो तो ।"

ब्रह्मचारी चौंककर उठ बैठा । बोला : "कौन है ? अच्छा, तुम फिर आ गईं ? क्या चाहती हो ? हमें इज़्ज़त के साथ जीने भी दोगी या नहीं ?"

सुन्दरी ने कहा : "भाई, मुझे नींद नहीं आती । वहाँ मच्छर काटते हैं । मुझे इस बरामदे में सोने दोगे, तो तुम्हारा एहसान मानूँगी ।"

ब्रह्मचारी तमककर बोला : "बरामदे में सोओगी ? अंगुली पकड़-कर पहुँचा पकड़ना चाहती हो ? फाटक क्या खोला, एक आफ़त ही मोल ली । वाह रे दुनिया !"

सुन्दरी ने कहा : "भैया, नाराज़ क्यों होते हो ? जाओ, गुरुजी से पूछ आओ और मुझे बरामदे में सोने दो ।"

ब्रह्मचारी फिर गुरु के पास गया । जाकर सुन्दरी की बात कही । गुरु जी बोले : "अच्छी बात है । उसे वहाँ नींद न आती हो तो भले ही बरामदे में आकर सोये । जगह तो वहाँ काफ़ी है ही ।"

सुनकर ब्रह्मचारी तिलमिला उठा । बोला : "महाराज ! बरामदे में हम सब ब्रह्मचारी सोये हुए हैं । कुछ समझ में नहीं आता कि आपने आज क्या सोचा है ।"

गुरुजी ने तुरन्त ही कहा : "बेटा ! समझ सको तो समझो; न समझ पाओ तो श्रद्धापूर्वक प्रतीक्षा करो; यथासमय सब समझ में आ-जायगा ।"

गुरु की आज्ञा पाकर ब्रह्मचारी चल दिया और सुन्दरी को आकर बरामदे में सुला दिया ।

आध घण्टे बाद सुन्दरी फिर उठी, ब्रह्मचारी के पास पहुँची और

उसे जगाने लगी : "भैया, ए भैया ! ज़रा जागो तो। यहाँकी यह सर्द हवा मुझसे सही नहीं जाती।"

ब्रह्मचारी फिर आँखें मलता हुआ उठ बैठा और गरजकर बोला : "क्या हुआ ? क्यों चिल्लाती हो ?"

"भाई ! बरामदे की इस सर्द हवा में मैं काँप रही हूँ। यह मुझसे सही नहीं जाती। तुम मुझे अपने गुरुजी के कमरे में सोने दो ताकि हवा न लगे। मेरा दुर्भाग्य कि ऐसे समय मेरे पास पूरे कपड़े भी नहीं हैं।"

ब्रह्मचारी मन ही मन बड़बड़ाया : "इन औरतों का यही तो दुःख है। इनकी एक बात सुनी और दस सुनने के लिए मजबूर होओ। कभी इनसे काम पड़े तो इन्हें मुँह न लगाने में ही भलाई है। इनकी-सी करो तो ये सिर चढ़ती हैं, ठुकराओ तो झख मारकर अकेली पड़ी रहती हैं। गुरुजी इसे अपने कमरे में क्या बिछौने में भी सुलायें, तो मुझे क्या ? मेरे बाप का क्या बिगड़ता है ?" यों बड़बड़ाता हुआ ब्रह्मचारी गुरुजी के पास पहुँचा। कुछ देर बाद आया तो बोला : "चलो बहिन, चलो ! तुम्हारा सितारा तेज है। जिस कमरे में गुरुजी अपने कुछ ब्रह्मचारियों तक को नहीं जाने देते, वहीं आज तुमको सोने की इजाज़त मिली है। ओह, अब यह आश्रम रहनेयोग्य नहीं रहा। हे भगवान् ! यह सब क्या हो रहा है ?"

यों कह, ब्रह्मचारी उस स्त्री को गुरु के द्वार तक छोड़ वापस चला गया।

कमरे के अन्दर गुरुजी अपनी शैया पर लेटे हुए थे। सुन्दरी को आते देख वह बोले : "इस कोने में सो जाओ। यहाँ तो तुम्हें हवा नहीं लगेगी न ?"

"नहीं महाराज !" कहकर सुन्दरी कोने में लेट गई। वह अभी

लेटी ही थी कि फिर उठ बैठी और बोली : "महाराज ! मुझे तो यहाँ भी नींद नहीं आती; बड़े जोर की सर्दी मालूम होती है। दया होगी, यदि आप मुझे अपने बिछौने में सुला लेंगे।"

गुरु ने तुरन्त ही कहा : "तो आओ; यह मेरा बिछौना है, यहाँ सो जाओ।"

गुरु के वचन सुनकर सुन्दरी मुसकराती हुई उठी और तुरन्त ही उनकी शैया पर आकर सो गई। कुछ ही देर बाद वह फिर उठ बैठी और बोली : गुरुजी ! मैं मारे सर्दी के काँप रही हूँ। आपके बिछौने में सोकर भी मेरा शरीर गरमा नहीं रहा है। दया होगी, यदि आप मुझे अपने बाहुपाश में सोने की अनुमति देंगे।"

गुरु ने तुरन्त ही कहा : "बेटी ! अगर मेरे पास सोने में तेरे शरीर की सर्दी कम होती हो, तो भले मेरे पास सो जा।"

मुनि की अनुमति पाकर सुन्दरी तुरन्त ही उनके पास पहुँची और उनसे लिपटकर सो गई। फिर तो जिन धन्धों में उसने अपनी सारी जिन्दगी बिताई थी, उनका प्रयोग करने में उसने अपनी ओर से कोई कसर न रक्खी। किन्तु गुरुजी तो ऊर्ध्वरेता थे। अतएव सुन्दरी की सभी कामचेष्टाएँ उनकी इन्द्रियों से टकराकर लौट गईं और चूर-चूर होगई।

इतने में आश्रम का मुर्गा बोल उठा। ब्रह्मचारियों का वेदोच्चार शुरू हो गया। यह देख गुरुजी ने अपनी शैया का त्याग किया और सुन्दरी को सम्बोधन करके कहा : "सुन्दरी ! आश्रम की सीमा छोड़कर चली जाओ। शायद तुम जानती नहीं हो कि मैं तुम्हारे सदृश अनेक सुन्दरियों को घोलकर पी चुका हूँ। तुम जाओ, फौरन चली जाओ। मेरे जैसे लोग तुम्हें अपनी शैया पर सुला सकते हैं और फिर भी तुम्हारी माया से अछूते रह सकते हैं। किन्तु हर कोई ऐसा नहीं कर सकता। अपने काशिराज से

कहना कि देवी-देवताओं के रंगमहल हो सकते हैं, पर हनुमानजी का कोई रंगमहल नहीं होता। कामदेव संसार में सबसे अधिक रूपवान है; किन्तु परमात्मा कामदेव से भी हज़ार गुना अधिक रूपवान है। जिसके हृदय में परमात्मा का निवास है, उसके हृदय को कामदेव कभी अपनी अमंगल छाया से दूषित नहीं कर सकता। जाओ, अपने काशिराज से मेरा आशीर्वाद कहना।"

इतना कहकर गुरु वेदपाठ में तल्लीन अपने ब्रह्मचारियों की ओर चले गये और सुन्दरी अपना-सा मुँह लिये नगर की ओर चल दी।

लेटी ही थी कि फिर उठ बैठी और बोली : "महाराज ! मुझे तो यहाँ भी नींद नहीं आती; बड़े जोर की सर्दी मालूम होती है। दया होगी, यदि आप मुझे अपने बिछौने में सुला लेंगे।"

गुरु ने तुरन्त ही कहा : "तो आओ; यह मेरा बिछौना है, यहाँ सो जाओ।"

गुरु के वचन सुनकर सुन्दरी मुसकराती हुई उठी और तुरन्त ही उनकी शैया पर आकर सो गई। कुछ ही देर बाद वह फिर उठ बैठी और बोली : गुरुजी ! मैं मारे सर्दी के काँप रही हूँ। आपके बिछौने में सोकर भी मेरा शरीर गरमा नहीं रहा है। दया होगी, यदि आप मुझे अपने बाहुपाश में सोने की अनुमति देंगे।"

गुरु ने तुरन्त ही कहा : "बेटी ! अगर मेरे पास सोने में तेरे शरीर की सर्दी कम होती हो, तो भले मेरे पास सो जा।"

मुनि की अनुमति पाकर सुन्दरी तुरन्त ही उनके पास पहुँची और उनसे लिपटकर सो गई। फिर तो जिन धन्धों में उसने अपनी सारी जिन्दगी बिताई थी, उनका प्रयोग करने में उसने अपनी ओर से कोई कसर न रक्खी। किन्तु गुरुजी तो ऊर्ध्वरेता थे। अतएव सुन्दरी की सभी कामचेष्टाएँ उनकी इन्द्रियों से टकराकर लौट गईं और चूर-चूर होगईं।

इतने में आश्रम का मुर्गा बोल उठा। ब्रह्मचारियों का वेदोच्चार शुरू हो गया। यह देख गुरुजी ने अपनी शैया का त्याग किया और सुन्दरी को सम्बोधन करके कहा : "सुन्दरी ! आश्रम की सीमा छोड़कर चली जाओ। शायद तुम जानती नहीं हो कि मैं तुम्हारे सदृश अनेक सुन्दरियों को घोलकर पी चुका हूँ। तुम जाओ, फौरन चली जाओ। मेरे जैसे लोग तुम्हें अपनी शैया पर सुला सकते हैं और फिर भी तुम्हारी माया से अछूते रह सकते हैं। किन्तु हर कोई ऐसा नहीं कर सकता। अपने काशिराज से

कहना कि देवी-देवताओं के रंगमहल हो सकते हैं, पर हनुमानजी का कोई रंगमहल नहीं होता। कामदेव संसार में सबसे अधिक रूपवान है; किन्तु परमात्मा कामदेव से भी हज़ार गुना अधिक रूपवान है। जिसके हृदय में परमात्मा का निवास है, उसके हृदय को कामदेव कभी अपनी अमंगल छाया से दूषित नहीं कर सकता। जाओ, अपने काशिराज से मेरा आशीर्वाद कहना।"

इतना कहकर गुरु वेदपाठ में तल्लीन अपने ब्रह्मचारियों की ओर चले गये और सुन्दरी अपना-सा मुँह लिये नगर की ओर चल दी।

१२

अप्रतिग्रह

कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, भारद्वाज, गौतम, विश्वामित्र और जमदग्नि ये सातों सप्तऋषि कहलाते हैं। वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती सदा उनके साथ ही रहती हैं, इसलिए उनकी गिनती भी सप्त ऋषियों में ही होती है।

एक बार ये आठों तपस्वी पृथ्वी की यात्रा को निकले थे। पृथ्वी-परिभ्रमण के इन दिनों में पशुसख नाम का एक शूद्र और गंडा नामक उसकी स्त्री इनकी सेवा में संलग्न रहते थे।

इसी बीच पृथ्वी पर भीषण अकाल पड़ा। मेघराज ने मेह बरसाने की कृपा नहीं की। खेत सब सूखे रह गये। कुंओं और तालाबों का पानी तले में जा लगा। पृथ्वी को तृप्ति न मिल सकी। अतएव सारी प्रकृति असुन्दर हो उठी; पेड़-पत्ते सूखने लगे; पशु पक्षी अन्न और पानी के अभाव में छटपटाने लगे; और भूख और प्यास के सताये मनुष्य तो जो सामने आया उसको निगलकर जीने लगे। सप्तऋषियों को भी अकाल की साँसत का ठीक-ठीक अनुभव होने लगा।

एक बार ये सब किसी नगर के राजमार्ग पर भूख और प्यास से छटपटा रहे थे कि इतने में वृषादर्भि नाम का राजा उधर से निकला। इन तेजस्वी मूर्तियों को देखते ही राजा अपने रथ से नीचे उतरा और इन्हें प्रणाम करके बोला, "महाशयो! आप सब भूख से पीड़ित प्रतीत होते हैं। मेरे पास पुष्कल अन्न है। आप उसे स्वीकारिए। धान, जौ, गेहूं, स्निग्ध पदार्थ आदि जो कुछ आपको चाहिए, मेरे पास है। आप प्रसन्न हूजिए और इन्हें स्वीकार कीजिए।"

वृषादर्भि की ये नम्रतापूर्ण बातें सुनकर ऋषियों ने कहा, "राजन्! परिस्थिति तो ऐसी है कि आप जो कुछ हमें दें, सो सब और उससे भी अधिक बहुत कुछ हम आपसे ले सकते हैं। इस भीषण अकाल में भूख का मारा आदमी आज आदमी को खाते हिचकिचाता नहीं है। इसपर आपकी मीठी वाणी हमें और भी ललचाती है। किन्तु राजन्! आप तो जानते ही हैं कि राजाओं से कुछ लेना, कुछ प्रतिग्रह करना, शहद में घुले हुए विष की तरह त्याज्य है। हम ब्राह्मण हैं। महान् परिश्रम के बाद हमने जो थोड़ा-बहुत तप पाया है, उस तप का एक क्षण में विनाश करनेवाले इस दान का आग्रह करके आप क्यों हमें गड्ढे में उतारा चाहते हैं? आपका कल्याण हो! आपके दान का कल्याण हो! आप दूसरे अनेक भूखे प्यासों को अन्न-जल देकर कृतार्थ हूजिए। पर हमें इस प्रतिग्रह के पथ पर न चढ़ाइए। यह हमारा मार्ग नहीं। ब्राह्मण प्रतिग्रह से जितने दूर रहें उतने ही अच्छे!"

इस प्रकार राजा को जवाब देकर ऋषि राजमार्ग का त्याग करके दूर के एक जंगल में चले गये। जंगल में गूलर के असंख्य पेड़ थे। राजा ने नगर में आकर जनता के प्रतिनिधियों को बुलाया और कहा : "हमारे राज्य की हद में कुछ असाधारण तेजवाले ऋषि पधारे हैं। वे भूख और प्यास से विह्वल होकर घूम रहे हैं। मैंने उन्हें दान देना चाहा, लेकिन उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। हमारे यहाँ भयंकर अकाल है; फिर भी ऐसी दशा नहीं कि आदमी पैसा खर्चे और अन्न न मिले। वे ऋषि पास के वन में गये हैं। वे सब अप्रतिग्रही हैं, इसीलिए मैं सोचता हूँ कि वन में जाकर वे गूलरों से अपनी भूख बुझायेंगे। आप सब वहाँ जाइए और गूलरों के अन्दर कुछ सुवर्णमुद्राएं रख आइए। जब वे लोग गूलरों को खाने लगेंगे, उन्हें मोहरें दिखाई देंगी, और अनायास प्राप्त समझ

कर वे उन्हें स्वीकार कर लेंगे। ऐसे अप्रतिग्रही लोग सीधे प्रतिग्रह नहीं करते, अतएव हमारा धर्म होजाता है कि हम उन्हें धोखा देकर भी प्रतिग्रह करावें। आप लोग जाइए और जैसा मैं बता चुका हूँ प्रबन्ध करके मुझे जताइए।"

"वृषादर्भि के ये वचन सुनकर उस नगर के कई नवयुवक वन की ओर चल पड़े। जिस समय ऋषि लोग नहाने-धोने में लगे थे, उसी समय का लाभ उठाकर इन लोगों ने ऋषियों द्वारा एकत्र गूलरों में मोहरें भर दीं और गूलरों को यथावत् रखकर स्वयं कुछ दूर पर छिपे खड़े रहे। वे जानना चाहते थे कि देखें, ऋषिगण अब क्या करते हैं।

स्नानादि से निवृत्त होकर आठों ऋषि अपने स्थान पर आये। उन्होंने ज्योंही उन फलों को खाने के विचार से उठाया, वे काफी वजनदार मालूम हुए। ऋषियों ने भेद को तुरन्त ही समझ लिया। बोले: "ये फल हमारे खाने योग्य नहीं रहे। राजा ने इनमें सुवर्ण-मुद्राएँ रखवाकर इन्हें अपवित्र कर दिया है।"

वशिष्ठ ने कहा: "हमारे लिए प्रतिग्रह से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं।

भारद्वाज बोले: "तृष्णा वस्तु ही ऐसी है कि उसका कभी अन्त नहीं आता।"

जमदग्नि ने कहा: "यदि ब्राह्मण को अपने तपोबल की रक्षा करनी है, तो उसे प्रतिग्रह का त्याग ही करना चाहिए। लोभ का नाम ही ऐसा है कि वह हर किसी बहाने आदमी को फँसा सकता है। 'एकत्र धन का धर्मकार्य में विनियोग करूँगा' ऐसी आत्मवंचना में भी आदमी इसके वश पड़ जाता है।"

अरुन्धती बोली: "धर्म के लिए द्रव्य-संग्रह करने और संग्रहीत धन के लिए पुनः परोपकार करने की भावना एकांगी भावना है। धर्म के निमित्त

द्रव्य-संग्रह करने की अपेक्षा हम उस तपोधर्म को ही क्यों न अपनायें, जिसमें द्रव्य के नाम पर एक पाई की जरूरत नहीं पड़ती ?"

यों कहकर और गूलरों को ज्यों का त्यों छोड़कर ऋषिगण वहाँसे चल दिये। जब प्रजाजनों ने राजा को ये समाचार सुनाये तो राजा क्रोधान्ध हो उठा। वह बोला : "इन पढ़े-लिखे मूर्खों को धर्माधर्म का कोई ज्ञान नहीं ! कम्बख्त जिस पूँछ को पकड़ते हैं उसे किसी हालत में छोड़ते ही नहीं। मैं मानता हूँ कि ब्राह्मण को लोभ नहीं करना चाहिए। लेकिन यह कैसी बात है कि कोई स्वेच्छा से कुछ दे और लेनेवाला ऐसे दारुण दुर्भिक्ष में भी उसे लेने से इन्कार करदे ? अब मैं भी इन्हें देख लूँगा। नाकों चने न चबवाऊँ तो कहना। वृषादर्भि जैसा राजा और उसकी प्रजा इन्हें आग्रहपूर्वक कुछ देना चाहती है, तो ये सिवा नखरों के बात नहीं करते !"

इस प्रकार कहकर उस क्रोधित अवस्था में ही वह अपनी अग्निशाला में होम करने बैठ गया। इस होम के फलस्वरूप अग्नि से कृत्या उत्पन्न हुई। राजा ने इसका नाम यातुधानी रक्खा। यातुधानी दोनों हाथ जोड़कर कहने लगी : "महाराज ! मुझे क्या आज्ञा होती है ?"

वृषादर्भि ने उसी क्रोध में कहा : "तू इन सातों ऋषियों के पास जा और सबसे पहले इनमें से हरएक का नाम लिख ले। ब्राह्मणत्व का दम्भ करनेवाले ढोंगियों को मैं जरा पहचानूँ तो सही ! फिर इन सबका नाश करके तू अपने स्थान पर वापस चली जाना। आज इन लोगों ने मेरी दान-वृत्ति पर कठोर प्रहार किया है, अतएव अब तो ये सर्वनाश के ही पात्र हैं। देखूँगा, बिना अन्न-जल के ये ब्राह्मण अपने तप को कैसे सुरक्षित रखते हैं।"

राजा की आज्ञा को सिर-माथे चढ़ाकर यातुधानी उसी वन में जा

पहुँचा जहाँ ऋषिगण विचर रहे थे। इस समय तक इस ऋषिमंडल में एक संन्यासी और एक कुत्ता ये दो नये प्राणी और आ मिले थे। संन्यासी का शरीर खूब हृष्ट-पुष्ट था और उसका कुत्ता भी वैसा ही मोटा-ताजा था।

इस प्रकार बारह जनों का यह दल बन में आहार के लिए घूमता-भटकता एक तलैया के पास जा पहुँचा। तलैया निर्मल जल से भरी हुई थी और उसमें नयन-मनोहर कमल खिले हुए थे। इसी ताल के किनारे वह यातुधानी भी बैठी थी।

दूर से तलैया का निर्मल जल और सुन्दर कमल देखकर ऋषिदल पुलकित हो उठा। निकट जाकर जब उन्होंने वहाँ यातुधानी को बैठे पाया, तो उससे पूछा : "इस तलैया के किनारे क्यों बैठी है ? तू कौन है ? तेरा इरादा क्या है ?"

ऋषियों के इन प्रश्नों की सम्पूर्ण उपेक्षा-सी करती हुई वह यातुधानी बोली : "मैं जो हूँ, सो हूँ। तुमसे मतलब ? तुम पूछनेवाले कौन ? मैं इस तलैया की हिफ़ाजत करने बैठी हूँ।"

ऋषियों ने कहा : "हम सब भूखे हैं। हमारे पास खाने को कुछ भी नहीं है। तेरी अनुमति हो, तो हम इस तलैया में से थोड़े कमल अपने लिए ले लें।"

यातुधानी ने जवाब दिया : "मैं इस तलैया की रक्षा में नियुक्त हूँ। मुझे आज्ञा हुई है कि मैं तुम लोगों के नाम लिख रक्खूँ। तुम सब अपने-अपने नाम मुझे लिखा दो, फिर खुशी से कमलों का उपयोग करो।"

यातुधानी की बात सुनकर सातों ऋषियों ने, अरुन्धती ने, पशुसख और गंडा ने अपने-अपने नाम लिखा दिये और फिर तलैया में पैठकर नहाने लगे। अन्त में उक्त मोटे संन्यासी की बारी आई, उससे भी नाम

लिखाने को कहा गया। लेकिन उसने नाम लिखवाने में कुछ ऐसी गड़बड़ मचाई कि यातुधानी ठीक-ठीक समझ नहीं पाई। उसने चिढ़कर कहा : "तूने अपना नाम सही-सही नहीं लिखवाया है; फिर से नाम लिखा।"

इसपर संन्यासी क्रुद्ध हो उठा और बोला : "क्या हम सब तेरे बाप के नौकर हैं ? मैं एक बार तुझे अपना नाम बता चुका हूँ। फिर भी तू समझी नहीं, इसलिए ले, अब दण्ड के प्रहार से तुझे समाप्त ही किये डालता हूँ।" यों कहकर संन्यासी ने दण्ड उठाया और यातुधानी के सिर पर उसका एक प्रहार किया। वह बेचारी उसी समय धराशायी होगई और जलकर खाक बन गई। फिर वह संन्यासी अपने दण्ड को पृथ्वी पर टेककर तलैया के किनारे बैठ गया।

इस बीच ऋषिदल ने तलैया में से कमलों और कमलनालों को एकत्र किया और ला-लाकर किनारे पर रक्खा। फिर तलैया में पैठकर वे खड़े-खड़े तर्पण करने लगे।

तर्पण समाप्त करके ज्यों ही सब बाहर आये, तो देखते क्या हैं कि तट पर न कमल हैं, न कमलनाल हैं ! यह देखकर सबको अतिशय आश्चर्य हुआ। सब मन-ही-मन सोचने लगे : "हम बहुत भूखे हैं, ऐसे समय किसी निर्दय आदमी ने हमें अपने इन कमलों से वंचित किया है।"

फिर तो मारे भूख के वे आपस में एक-दूसरे को ही शंका की दृष्टि से देखने लगे। अन्त में इस तरह की शंकाओं का निवारण करने के लिए उनमें से प्रत्येक इस प्रकार की शपथ लेने लगा : "जिसने कमल चुराये हों उसे यह पाप लगे; उसकी ऐसी गति हो, वैसी गति हो; उसे यह लोक मिले, वह लोक मिले।" इस प्रकार की शपथें दसों प्राणियों ने लीं। अन्त में उस मोटे संन्यासी की बारी आई। उसने भी हाथ में

पानी लेकर यों कहना शुरू किया : "जिसने ये कमल चुराये हों, उसे ब्रह्मचारी का पुण्य मिले ; जिसने ये कमल चुराये हों, उसे स्नातक ब्राह्मण का पुण्य प्राप्त हो।"

संन्यासी की इन शपथों को सुनकर सब पुकार उठे : "हे दंडिन् ! अब तुम चुप रहो ! तुम्हींने हमारे कमल चुराये हैं।"

संन्यासी ने कहा : "हाँ, मैं ही आपके कमलों का चोर हूँ। निर्दोष ऋषियो ! आप लोगों का नाश करने के लिए भेजी गई इस यातुधानी को भी मैंने ही जलाकर भस्म किया है। मैं इन्द्र हूँ। आप लोग मारे भूख के अतिशय व्याकुल थे। वृषादर्भि ने आपको भाँति-भाँति के भोग प्रदान करने की इच्छा व्यक्त की, यही नहीं उसने तो बलात् आपको कुछ देने का यत्न किया, फिर भी आप ललचाये नहीं, इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। माता अरुन्धती ! आपके समान निर्लोभ ऋषि-मुनियों को जीवन-यात्रा में दुःखों का सामना न करना पड़े, इसका पूरा प्रबन्ध ब्रह्मदेव ने कर रक्खा है। आज आप लोगों की तनिक-सी सेवा का जो अवसर मुझे मिला उसके लिए मैं ब्रह्मदेव का अतिशय आभारी हूँ। जिसपर ईश्वर की कृपा होती है, वही आपके समान सन्तों की चरण-रज को माथे चढ़ाने का सुयोग पाता है।"

यह कह इन्द्र ने उन सबको प्रणाम किया और वहाँसे बिदा होगया।

१३

भामती

"देवि ! तुम कौन हो ?"

गाँव के एक छोटे-से घर के कमरे में अरंड के तेल का दीया जल रहा था। कमरे की खपरों वाली दीवारें गारे से छवी और गोबर से लिपी-पुती बहुत सुहावनी दीखती थीं। दूर के एक कोने में मटकों की कतारें खड़ी थीं, और पास ही के दूसरे कोने में मिट्टी के थालवाली चक्की और मचिया पड़ी थी। दीये के पास चटाई बिछाकर शास्त्रीजी बैठे कुछ लिख रहे थे। उनकी चटाई के आसपास तीन-चार पोथियाँ पड़ी थीं, और पास ही कुछ बस्ते खुले धरे थे।

लकड़ी की दीवार पर रक्खा हुआ अरण्ड का वह दीपक सारे कमरे को प्रकाशित कर रहा था। उधर शास्त्रीजी एकाग्रभाव से कुछ लिखते चले जा रहे थे। घड़ी दो घड़ी में कभी एकाध बार वे पास में पड़ी हुई पोथियों के पन्नों को हाथ में लेकर कुछ पढ़ते और कुछ समझते नजर आते थे, कभी घड़ीभर के लिए विचार में डूब जाते थे, और कभी-कभी पोथी-पन्नों को एक ओर रखकर वे हृदय की किसी अगम गहराई में प्रवेश करने की चेष्टा में रत आँखें मूँदते नजर आते थे। और फिर कुछ देर बाद हाथ में क़लम पकड़कर कुछ नया लिखने में लग जाते थे।

इसी बीच दीये का तेल खतम होने आया। बत्ती पर गुल छा गया। दीपक का प्रकाश धुंधला हो चला। तभी एक स्त्री ने धीमे-से आकर दीये में तेल पूर दिया, दीये की बत्ती को सहज उसकाया और जलते हुए

गुल को गिराने के लिए सलाई का एक झटका दिया कि दीपक अचानक बुझ गया।

दीपक अभी बुझा ही था कि उस स्त्री ने उसे तुरन्त ही जला दिया और उसे यथावत् रखकर वह लौटने लगी, इसी समय शास्त्रीजी की दृष्टि उसपर पड़ी। दीपक के एकाएक बुझने और फिर से जल उठने के कारण शास्त्रीजी मानो अपनी विचार-निद्रा से जाग पड़े। सामने एक स्त्री को देखकर उनके विस्मय का पार न रहा। वे बोल उठे : "देवि! तुम कौन हो?"

भामती ने नम्रता से कहा : "महाराज! आप अपना काम कीजिए। मुझसे गलती हुई। दीया बुझ गया। मुझे क्षमा कीजिए।"

शास्त्रीजी ने विशेष आग्रह से पूछा : "लेकिन बहन, यह तो कहो कि तुम हो कौन? यहाँ कैसे आई?"

भामती ने अधिक स्थिर चित्त से कहा : "आप अपना काम जारी रखिए, आपके काम में विक्षेप पहुँचाकर मैंने आपका अपराध किया है।"

शास्त्रीजी ने हाथ में का पोथी का पन्ना नीचे रक्खा, क़लम नीचे रक्खी, और मानो जीवन का कोई नया तत्त्व उपलब्ध हुआ हो इस तरह आतुर आँखों से पूछना शुरू किया : "नहीं, नहीं, बहन! बताओ, कि तुम कौन हो? तुम्हारा जवाब पाकर ही अब मैं इन पत्रों को हाथ लगाऊँगा।"

भामती कुछ देर तो मौन रही। फिर बोली : "प्राणनाथ! मैं आपकी परिणीता स्त्री हूँ। मुझे बहन कहकर पाप में न डालिए।"

भामती के इन शब्दों को सुनते ही शास्त्रीजी आश्चर्य में आकर बोले : "क्या कहा? तुम मेरी परिणीता स्त्री हो? तो हमारा ब्याह कब हुआ?"

भामती ने कहा : "पतिदेव! हमारा ब्याह हुए आज करीब पचास-साठ वर्ष हो चुके।"

शास्त्रीजी से न रहा गया : "इतने वर्षों से तुम मेरे साथ ही रह रही हो ! सारा दिन क्या किया करती हो ? मुझे आज तक इसका पता क्यों नहीं चल सका ?"

भामती बोली : "प्राणनाथ ! जिस दिन से अपनी माँ का आँगन छोड़कर इस घर में आई हूँ, यहीं हूँ। आपने तो ब्याह के दिन भी मंडप में बैठे-बैठे दाहिने हाथ से मेरा हाथ थामा था, और बायें में ये पन्ने ले रक्खे थे। मुझे वह दिन अच्छी तरह याद है। तबसे आजतक ये पन्ने भले हैं और आप भले हैं। मैंने तो यही देखा है।"

"लेकिन तुम्हारे ये पचास-साठ वर्ष बीते कैसे ? मैं तुम्हारा पति हूँ, इसका खयाल तो तुमने मुझे आज ही होने दिया।"

"पतिदेव ! मेरे दिन आपकी सेवा में ही बीते हैं। सुबह आपके जगने से लेकर रात में सोने तक जितनी बन पाती है उतनी सेवा मैं आपकी करती हूँ। जब रात में पढ़ते-पढ़ते आप इस गद्दी पर सोजाते हैं, तो मैं इन सब पन्नों को जमाकर ठीक से रख देती हूँ। आपके सिरहाने एक छोटा तकिया लगा देती हूँ और आपके दुखते पैरों को दबाती हुई वहीं सो जाती हूँ। सुबह आपके जगने से पहले ही उठ बैठती हूँ। इस चक्की से जरूरत भर का आटा पीस लेती हूँ और आपके जागने पर शौच-स्नान का पानी वग़ैरा तैयार करके आपकी सेवा में हाजिर हो रहती हूँ।"

पुरुष ने पूछा : "क्या कहा ? शौच-स्नान का पानी भी तुम्हीं मुझे देती हो ? मैंने तो कभी तुम्हें देखा ही नहीं ?"

भामती बोली : "आप मुझे क्योंकर देखते ? आपकी दृष्टि तो मुझ-पर पड़ती थी, पर उस दृष्टि के पीछे मन आपका रहता हो तब न ? बेचारी चमड़े की आँखों की क्या ताकत जो मुझे देखें ?"

"तो फिर, हमारे खान-पान का प्रबन्ध कैसे होता है ?"

"दुपहरी में मैं मुहल्ले की लड़कियों को सीने-पिरोने का काम सिखाती हूँ। कुछ गीत उन्हें याद करा देती हूँ। इसके बदले में वे बेचारियाँ अपने घर से मुझे आटा, कभी दाल और कभी दूसरी चीजें दे जाती हैं। इसीसे हमारा निर्वाह होता है।" भामती ने समझाते हुए कहा।

शास्त्रीजी से न रहा गया। वे एकदम खड़े होगये और बोले : "तुम्हारा नाम क्या है ?"

"भामती !"

वे भामती के चरणों में झुक गये और बोले : "भामती ! भामती ! मुझे माफ करोगी क्या ? मैं तुम्हारा अपराधी हूँ। मुझ पापी को, जिसने पचास साल तक तुम्हें सताया और आँख उठाकर तुम्हारी ओर देखा तक नहीं, तुम माफ कर सकोगी क्या ?"

भामती ने कहा : "पतिदेव ! आप यह क्या कहते हैं। आपकी इन बातों से मैं जमीन में गड़ी जाती हूँ। इन्हें सुनना भी पाप है। अगर आपने मेरी ओर देखा भी होता तो मैं आज जैसी हूँ उससे भी अधिक पशु बनी होती। आपने मेरी ओर आँख उठाकर नहीं देखा, इसीसे तो मैं पशु न बनकर मनुष्य बनी हुई हूँ। पतिदेव, इसका सम्पूर्ण यश आपको है।"

"भामती ! भामती ! तुम यह क्या कहती हो ?"

भामती बोली : "मैं ठीक ही कहती हूँ। आपने अपना समूचा जीवन इन शास्त्रों के लिखने और पढ़ने में बिता दिया, इसीसे मैं भी आपकी कुछ सेवा कर सकी हूँ, और इसको मैं अपना अहोभाग्य समझती हूँ। यदि कहीं और ब्याही होती, तो घर-गृहस्थी के गोरखधन्धों में उलझ मरी होती और शूकरी की तरह वंश-विस्तार में पड़ी होती। यह आप ही के तप का प्रभाव है, जिसमें तपकर मैं भी पहले से अधिक पवित्र

चनी हूँ। अब आप अपने काम में लग जाइए और मुझे पुनः एक बार भूल जाइए।"

"भामती ! ठहरो; सुनो एक बात।"

"आप अपने वेदान्त को भूलकर मेरे मोह में न फँसिए। मुझे अब इस पाप में फँसाइए।"

शास्त्री जी बोले : "भामती ! मैं तुम्हें पाप में फँसाना नहीं चाहता। मैं तो यही सोच रहा हूँ कि मैं स्वयं पाप में फँसा हुआ हूँ, या उससे ऊपर उठा हुआ हूँ।

भामती ने कहा : "आप तो देवता हैं। आप जो कुछ लिखेंगे, उससे संसार का उद्धार होगा।"

"देवि ! सच कहता हूँ, भगवान् व्यास ने वर्षों की तपस्या के बाद अपनी आर्ष दृष्टि से वेदान्त का ग्रन्थ लिखा है। मैंने इसे पढ़ा और इस-पर विचार किया है। लेकिन भामती ! तुम यह निश्चय जानो कि मेरा सारा पठन और मनन व्यास भगवान् का यह ग्रन्थ और समूचा वेदान्त भी तुम्हारे इस जीवन की बराबरी करने में समर्थ नहीं। मैंने वेदान्त पढ़ा है; व्यासजी ने वेदान्त लिखा है। पर तुमने तो वेदान्त को जी कर दिखाया है। भामती ! आज सचमुच मेरी आँखें खुल गईं।" कहते-कहते शास्त्री जी भामती के चरणों में गिर पड़े।

भामती ने पति को हाथों पर लेते हुए कहा : "आप यह क्या कह रहे हैं ? मैंने आपकी सेवा छोड़ और किसी चीज की कभी कामना ही न की। मुझपर आपका यह कितना बड़ा उपकार है कि आपने मुझ जैसी को अपनी सेवा का इतना उत्तम अवसर प्रदान किया। आप उठिए। आजतक मैं आपके चरणों में सोई हूँ। इसी तरह इन्हीं चरणों में सोती

हुई मैं महानिद्रा को प्राप्त हो सकूँ, इससे बढ़कर और अहोभाग्य मेरा क्या हो सकता है ? ऐसा भाग्य मैं लाऊँ कहाँसे ? आप उठिए।"

"भामतीदेवी ! सुनो ! तुम यह समझ लो इन पन्नों को लिखने में मैंने अपना सारा जीवन खपा दिया है। लेकिन जब मैं देखता हूँ कि तुमने मेरे पीछे अपना सर्वस्व स्वाहा कर डाला है, तो मुझे अपनी क्षुद्रता का स्पष्ट दर्शन होजाता है। अब अपने इस ग्रन्थ के पन्ने-पन्ने में मुझे तुम्हारे जीवन का प्रकाश जगमगाता नजर आता है। जाओ, यह ग्रन्थ दुनिया में तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध होगा। तुमने मेरे लिए अपना सब कुछ होम डाला, उसकी स्मृति में तुम मेरी ओर से इतना स्वीकार करो। महान् आत्म-समर्पण के सामने संसार मेरे समान क्षुद्र मानव को सदा के लिए भूल जाय, यही मैं तुमसे चाहता हूँ।"

भामती जाने को हुई। जाते-जाते बोली : "अब आप पुनः अपना काम शुरू कीजिए। मैं जाती हूँ।"

"देवि ! तुम्हें जहाँ जाना हो, जा सकती हो। मैं अब इस जीते-जागते वेदान्त को छोड़कर मृत वेदान्त के शव की चीरफाड़ करना ठीक नहीं समझता।"

यह कहकर शास्त्रीजी ने अपनी पोथियाँ बांधनी शुरू कीं और लिखने के साधनों को एक ओर रख दिया।

शास्त्रीजी का यह ग्रंथ आज भी वेदान्त शास्त्र का एक अद्वितीय ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथ का नाम है : **भामती**।

१४

राजा ययाति

ययाति राजा ने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया था। देवयानी जब ससुराल आई तो साथ में दानवों के राजा की पुत्री शर्मिष्ठा को अपनी दासी बनाकर साथ लाई थी।

देवयानी शुक्राचार्य की एकलौती लड़की थी। शुक्राचार्य दानवों के गुरु, मृत दानवों को जीवित करने की विद्या जाननेवाले, इस कारण दानवों का काम बिना शुक्राचार्य की सहायता के एक क्षण भी नहीं चलता था। ऐसी अवस्था में शुक्राचार्य कन्या की ओर ज्यादा समय नहीं दे सकते थे। अतः अकेली लड़की बचपन से ही हठीली बन गई थी। छोटी-छोटी बातों में भी उसकी इच्छा के अनुसार काम न होता तो वह झगड़ा खड़ा कर देती थी, इतनी हठीली वह होगई थी। एक बार बातों ही बातों में राजकुमारी शर्मिष्ठा से उसका झगड़ा होगया और बहुत समझाने-बुझाने पर देवयानी ने शर्मिष्ठा को दासी के रूप में अपने साथ रखना स्वीकार किया। शुक्राचार्य की असाधारण विद्या और पुत्री के ऊपर उनकी असाधारण ममता, इन्हीं दो बातों पर देवयानी की हस्ती थी।

शर्मिष्ठा दानवों के राजा वृषपर्वा की पुत्री थी। उसमें असाधारण लावण्य था। उसके सारे अवयव गठीले थे। उसके मुख में से एक प्रकार का सुवास निकलता था। उसकी चाल अच्छे-अच्छे संयमी पुरुषों को आकर्षित करने में समर्थ थी। उसके सारे देह का मरोड़ मानो कामदेव

से ही लिया गया हो ऐसा लगता था। इसके अलावा राजमहलों में अनायास प्राप्त वाणी का विवेक, नम्रता, कोमलता, रीति-व्यवहार और बाहर की तड़क-भड़क आदि गुण भी सब उसमें थे।

देवयानी जब ससुराल जाने लगी तो शुक्राचार्य ने देवयानी के आग्रह से ययाति से जोर देकर कहा—"राजन्, यह जो राजकुमारी शर्मिष्ठा तुम्हारे साथ जा रही है यह देवयानी की दासी की हैसियत से है। उसके साथ मेरी पुत्री की दासी के जैसा ही व्यवहार रखना।"

राजा बाजते-गाजते घर आये और देवयानी राजमहल में रहने लगी। ययाति ने दासी होते हुए भी राजकुमारी के रहने योग्य अलग एक मकान उसके लिए बनवा दिया।

इस प्रकार देवयानी और शर्मिष्ठा के दिन बीतने लगे।

एक बार जब ययाति देवयानी के महल में आरहे थे तो देवयानी के बालक अन्य बालकों के साथ खेल रहे थे। उनमें से एक बालक 'पिताजी' कहकर ययाति से लिपट गया। ययाति ने बालक को एक ओर करके किसी प्रकार वहाँसे छटक जाना चाहा। इतने में तो देवयानी बाहर आगई; यह देखकर वह आग बबूला हो उठी : "राजाजी! यह बालक किसका है?"

"रानी, यह तो तुमको मालूम होगा। तुम्हारे महल में किस-किसके बालक खेलने आते हैं, इसका मुझे क्या पता?" ययाति ने शान्ति से उत्तर दिया।

पर इससे देवयानी का क्रोध और भड़क उठा—"मुझे सब पता लग गया है। यह शर्मिष्ठा का बालक है। पर यह आपसे पिताजी कहकर कैसे लिपट गया?"

"यह उसीसे पूछो।" ययाति ने कहा, "बालक है न। यों ही कह दिया होगा।"

देवयानी और चिढ़कर बोली—"मैं जानती थी कि वह अकेली कहाँ तक रहेगी। कोई आने-जाने लगा होगा उसके पास। उसीसे उसके यह पुत्र हुआ होगा। पर मुझे यह पता नहीं था महाराज, कि वह मेरी ही सौत बन बैठी है। मुझे कुछ-कुछ शक तो था। आज उसका निश्चय होगया। राजन्! मैं किसकी लड़की हूँ, यह आपको पता है? शुक्राचार्य की पुत्री इस प्रकार की सौतें सहन नहीं कर सकेगी। मैं आपके घर में अब नहीं ठहरने की। आज ही मैं अपने पिता के यहाँ चली जाती हूँ, और जबतक जीऊँगी तबतक वहीं रहूँगी। मन में तो ऐसा आता है कि उस चुड़ैल को जिन्दा की जिन्दा चबा जाऊँ। पर लाचार हूँ। आपने जो शर्मिष्ठा में संतान पैदा की इसका दंड तो मेरे माता-पिता ही आपको देंगे। अगर मुझे यह मालूम होता तो उसे मैं अपने साथ लाती ही क्यों? पर मैं ठहरी ब्राह्मण कन्या और वह राजकुमारी। इस कारण ही शायद आपने ऐसा किया। ययाति, मैं सच कहती हूँ कि मुझे छोड़कर आप दूसरी स्त्री की ओर आकर्षित हुए इसका मुझे दुःख नहीं है। पर इस शर्मिष्ठा की तरफ आकर्षित हुए यह जब ध्यान में आता है तो मारे क्रोध के मेरे सारे रोयें खड़े होजाते हैं। इसका मुझपर जबर्दस्त आघात हुआ है और मैं जड़-सी बन जाती हूँ।"

"देवी! जो हुआ सो हुआ। अब मुझे क्षमा करो।" ययाति ने कहा।

"राजन्! मैं सीता, सावित्री के समान आपकी अर्धांगिनी होती तो क्षमा कर देती। यही नहीं; इसपर मेरा ध्यान भी नहीं जाता। पर मैं देवयानी हूँ। दुनिया में किसीसे भी अपमान मैंने सहन नहीं किया। आपको मालूम है कि कच से अधिक मेरा प्रिय कोई नहीं था। कच के खातिर एक समय मैं अपने प्राण भी देने को तैयार होगई थी। पर उसी

कच ने जब मेरे स्नेह को स्वीकार नहीं किया तो मैंने उसे श्राप दिया। इसी शर्मिष्ठा ने जब हम जलक्रीड़ा कर रहे थे तब भूल से मेरे कपड़े पहन लिये और गर्व से मुझे जवाब दिया, उसीके परिणामस्वरूप आज यह मेरी दासी है। मेरी इस दासी ने ही मेरे सांसारिक जीवन पर जो प्रहार किया है उसे मैं चुपचाप सहन करनेवाली नहीं। ऐसा कभी नहीं हो सकता। शुक्राचार्य की पुत्री से ब्याह करना कितना महँगा सौदा है इसका अनुभव आपको होना चाहिए।"

इस प्रकार कहकर क्रोधित देवयानी अपने पीहर चल पड़ी और पापभीरु तथा शापभीरु ययाति भी उसके पीछे चल दिया।

देवयानी को एकाएक घर आते देखकर शुक्राचार्य एकदम चिन्ता में पड़ गये। इतने में देवयानी भभक उठी—

"पिताजी मैं वापस आगई हूँ। और अब फिर जानेवाली नहीं हूँ। मेरे लिए साढ़े तीन हाथ जमीन तो आपके घर में मिल ही जायगी इसी विश्वास से यहाँ चली आई हूँ। अब मुझे इधर-उधर की कुछ कहकर वापस भेजने का प्रयत्न बिलकुल न करें। राजा ययाति ने उस पापिनी शर्मिष्ठा से जो संबंध किया है उसे मैं नहीं देख सकती, इसी कारण यहाँ चली आई हूँ। अब आपको जो ठीक लगे कीजिए। आप चाहें तो इस जवानी में ही उस राजा को नपुंसक बना सकते हैं। आप अगर उसे कुछ भी दण्ड न देंगे तो मुझसे यह अपमान सहन नहीं होगा और मैं बेमौत मर जाऊँगी। आप इतनी विद्याओं के जाननेवाले, आपका इतना मान, और आपकी एकमात्र पुत्री को ययाति इस प्रकार अपमानित करे, यह आपसे कैसे सहन हो सकता है? आपको यह नहीं महसूस होता कि ऐसे कामी राजा को एक बार उसके काम का दण्ड मिलना ही चाहिए?"

शुक्राचार्य देवयानी का यह विलाप सुनकर मन में बहुत खिन्न

हुए। इतने में तो ययाति भी वहाँ पहुँच गया। ययाति को देखकर शुक्राचार्य का क्रोध उबल पड़ा : "राजा ! तुम मुझे अपना मुँह न दिखाओ। मैंने तुमको स्पष्ट आज्ञा की थी कि शर्मिष्ठा को केवल दासी समझना, फिर भी तुमने नहीं माना और देवयानी के दिल को चोट पहुँचाई। इस कारण मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि इसी क्षण से तुम्हारी जवानी अदृश्य होजाय और तुम्हें वृद्धावस्था प्राप्त हो। चाहे जितनी इच्छा होने पर भी तुम कामायेभोग न भोग सको, यही तुम्हारी दुष्टता की सज़ा तुमको है। बस, चले जाओ यहाँसे।"

शुक्राचार्य के मुँह में से ये शब्द निकले-न-निकले इतने में तो जवान राजा एकदम वृद्ध होगया। उसके बाल सफेद होगये। गाल पिचक गये। चमड़ी पर झुर्रियां पड़ गईं और उसका शरीर काँपने लगा। उसकी आँखें कमजोर होगईं, मुँह से लार गिरने लगी। अपना यह स्वरूप देखकर ययाति एकदम घबरा गया और दीन होकर आचार्य से बोला—"आचार्य, जैसे आप देवयानी के पिता हैं वैसे ही मेरे भी पिता होते हैं। यह सच है कि मैंने आपकी आज्ञा का भंग किया है, और यह भी सच है कि मैंने देवयानी का मान-भंग किया है। पर आचार्य, मैं कौन-सा ऐसा बड़ा योगी या महात्मा हूँ जो शर्मिष्ठा की ओर आकर्षित न होऊँ। आचार्य, एक बात सच-सच कहता हूँ। देवयानी का स्वभाव इतना तेज़ है कि उसके पास जाते हुए मुझे डर-सा लगता और जाने पर कब वहांसे भाग छूटूँ यह मन में हुआ करता। जवानी के ऐसे प्रसंगों में मैं शर्मिष्ठा की तरफ़ आकर्षित हुआ, तो आचार्य, इसमें मेरी भूल तो है ही, पर इस भूल में देवयानी का भी कोई कम भाग नहीं है। यह आपको देखना चाहिए।

"आचार्य ! मैं कामी आदमी हूँ। अभी मेरी काम-वासना तृप्त नहीं

हुई। और आपने मुझे वृद्धत्व दिया। शरीर से वृद्ध होने पर भी मेरा मन कामी है। आपके शाप से मुझे पीड़ा जरूर होगी, पर मेरी कामवासना का नाश होगा क्या? यह बुढ़ापा मुझे खलेगा जरूर, पर मेरी लालसाएँ मन की मन में रह जाने से उनका शमन नहीं होगा। और जब तक उनका शमन नहीं होगा मैं उनको मन में रखकर दुनिया में भटकता फिरूँगा। आप अनेक विद्याओं के आचार्य हैं, अनेक दानवों को आपने शिक्षा दी है, तो आप मुझे भी कृपा करके बताइए कि मैं किस प्रकार अपनी वासना से मुक्त होऊँ। मुझे ऐसा लगता है कि कुछ समय काम-भोग भोगने के बाद मेरा मन अपनेआप उस तरफ से फिर जायगा। पर आज तो आपने मेरे मन को शान्त किये बिना ही मेरी इंद्रियों को बुढ़ापा दिया है, इससे मेरी दशा विचित्र होगई है। गुरुदेव! जैसे आपने देवयानी को राजी करने का यह प्रयत्न किया उसी प्रकार आपके इस बालक के मन को भी शान्ति मिले ऐसा प्रयत्न कीजिए।"

ययाति के ऐसे दीन वचन सुनकर शुक्राचार्य बोले—"राजा, मुझे तुझपर दया आती है। जा, तेरा कोई पुत्र तेरा बुढ़ापा लेकर तुझे अपनी जवानी देने को तैयार होजायगा, तो तेरा वह पुत्र वृद्ध होजायगा और तू जवान बन जायगा। यह भी बता देता हूँ कि तू यह जवानी अपना जी चाहे जब तक रख सकेगा और मृत्यु भी इसमें बाधा नहीं डाल सकेगी। अब जा, मैं अपने शाप में इससे अधिक कुछ कमी नहीं कर सकूँगा।"

राजा ययाति शाप और बुढ़ापा लेकर घर आये। राजा के इस अचानक बुढ़ापे से सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने शर्मिष्ठा को सारा हाल सुनाया। राजा ने पाँचों पुत्रों को भी बुलाया और कहा—"पुत्रो! शुक्राचार्य के शाप से मैं अकालवृद्ध होगया हूं। पर मेरे मन में अभी जवानी के भोग भोगने की इच्छा है। तुममें से कोई अपनी

जवानी मुझे देकर मेरा बुढ़ापा ले ले तभी यह संभव है। तुम मेरे पुत्र हो। अपने पिता की रही हुई वासना को तृप्त कराकर उसके मन को शान्ति देना तुम्हारा धर्म है।"

राजा के ये वचन सुनकर देवयानी से ययाति के जो दो पुत्र थे वे सिर हिलाकर बोले—"पिताजी, आपके माँगने पर जवानी तो क्या अपना जीवन भी हम अर्पण करने को तैयार हैं; पर अपनी जवानी देकर आपकी काम-वासना को पोषण देना हमें अधर्म मालूम होता है, इसलिए हम आपका बुढ़ापा लेने के लिए तैयार नहीं हैं।" अन्य पुत्रों ने भी ऐसा ही जवाब दिया। ययाति इनसे अप्रसन्न हुए और उनको श्राप दिया। पिता-पुत्रों का यह अप्रिय संवाद हो ही रहा था कि शर्मिष्ठा का सबसे छोटा पुत्र आगे आया और बोला—"पिताजी, मैं बुढ़ापे और जवानी को कोई खास बात नहीं समझता। अलबत्ता यह समझता हूँ कि जब पिता दीन होकर कोई वस्तु पुत्र से माँगें तो मुझसे इनकार नहीं किया जा सकता। लीजिए पिताजी, यह मेरी जवानी और लाइए अपना बुढ़ापा। आप प्रसन्न होइए।"

अपने सबसे छोटे पुत्र के ये वचन सुनकर राजा ययाति ने शुक्राचार्य का स्मरण किया और देखते ही देखते पुत्र वृद्ध होगया और राजा पहले से भी अधिक जवान।

फिर तो राजा ने काम-भोग शुरू किया। नंदनवन के समान अपने वनों में विहार होने लगे, स्त्रियों के साथ क्रीडाएँ होने लगीं और पाँचों इंद्रियों के विषयों का खुलकर सेवन होने लगा—गान-तान, भोग-विलास—मानो बुढ़ापा आया ही न था और आनेवाला भी नहीं था।

× × ×

शरद् पूर्णिमा की रात्रि में एक दिन राजा महल की छत पर अकेले

टहल रहे थे। इतने में दूर बगीचे में घूमते हुए अपने वृद्ध पुत्र पर उनकी निगाह पड़ी। फिर तो पलभर में सारा पिछला इतिहास उनकी आँखों के सामने आगया। हजार वर्ष पहले उससे उधार लिया हुआ यौवन, भोग-विलास, भोग-विलासी की मनोदशा, सब उसकी आँखों के सामने आने लगे। राजा उदास होगया और मन में गुनगुनाने लगा—"मैंने बुढ़ापा देकर यह जवानी ली, यह क्या उचित हुआ? यह माना था कि कुछ भोग भोगने के बाद मन तृप्त होजायगा; पर यह क्या ठीक था? आज हजार वर्ष होगये और मन तृप्त नहीं हुआ तो क्या अगले दस हजार वर्षों में भी मन का तृप्त होना संभव है?" राजा ययाति का मन विचारों के भंवर में फँस गया। मधुर चाँदनी, मीठा दक्षिण का पवन, भले बाग-बगीचे, सुगन्धित पदार्थ, सुन्दरी स्त्रियाँ, सब उसकी आँखों के सामने से गुजरने लगे। इसी सोच-विचार से वह थक गया और ये सब भोग-विलास जैसे खारे लगने लगे। वह एकाएक उठा, पुत्र को जोर से पुकारा, छत से नीचे उतरकर बगीचे में आया और पुत्र से बोला—"बेटा, ले यह अपनी जवानी और मेरा बुढ़ापा मुझे दे दे।"

"पिताजी! इतनी जल्दी किस बात की है? रात भी क्या भारी होरही है? अभी दो-चार वर्ष और रखिए।"

पुत्र के इन वचनों से राजा और दुखी हुआ। बोला—

"बेटा, तेरे ये निर्दोष वचन मुझे भाले के समान चुभते हैं। मैंने माना था कि थोड़ेसे भोग और भोग लेने के बाद मन तृप्त होजायगा और फिर शान्ति मिल जायगी। पर मन को तो भोगों की भूख टूट पड़ी है। जैसे नदीदा होने पर मनुष्य चाहे जितना खाये तो भी उसकी भूख मिटती नहीं उसी प्रकार मन का हुआ है। मैं समझ गया कि जैसे अग्नि में लकड़ी डालने से शान्त होने के बदले वह और भड़कती है उसी प्रकार

कामाग्नि में भोग रूपी लकड़ी डालने से वह और भड़कती ही है। बेटा, यही मेरा अनुभव है। दुनिया के जो प्राणी यह मानते हों कि भोगों को भोगते रहने से कुछ समय बाद मन अपनेआप उनपर से हट जायगा, उन्हें मैं बताना चाहता हूँ कि यह मान्यता ग़लत है। भोगों को भोगने से वासना घटती नहीं बल्कि बढ़ती है। और उसके बाद मनुष्य मिटकर पशु बन जाता है। बेटा! हजार वर्षों के निचुड़ जाने के बाद मुझे यह ज्ञान हुआ, इस कारण मैं तेरा ऋणी हूँ। जा, प्रभु तेरा भला करें। यह राज्य मैं तुझे सौंपता हूँ और आज से वानप्रस्थ लेता हूँ।"

यह कहकर अपनी वृद्धावस्था वापस लेकर राजा वन में चला गया।

१५

वामदेव

पुराने जमाने में शल नाम का एक राजा था। एक बार मृगया करते-करते वह एक जंगल में बहुत दूर निकल गया। पर मृग हाथ नहीं आया। शल इससे बहुत झुंझलाया और अधीरता से सारथी से बोला—"सारथि! घोड़ों को मारे चलो। उस हरिण को तो पकड़ना ही है।"

राजा के वचन सुनकर सारथी कुछ निराश होकर बोला: "महाराज! मृग इतनी दूर निकल गया है कि ये घोड़े तो क्या वामी घोड़े भी इस रथ में जुते हों तो भी उसे पकड़ पाना कठिन है।"

सारथी के ये वचन सुनकर राजा का कुतूहल और जगा। वह बोला—"कठिन तो होगा, पर असंभव तो नहीं है न? शल के लिए दुनिया में असंभव जैसी कोई चीज नहीं है। और वामी घोड़ों के बारे में जो तुमने कहा सो ये कैसे, किसके और कहाँ हैं? यह मुझे जल्दी बताओ, जिससे उन्हें प्राप्त करूँ और मृग को पकड़ूँ।"

घोड़ों को पूरे जोर के साथ हाँकता हुआ सारथी बोला—"वे घोड़े आपको मिल नहीं सकते। इसलिए आपका मृग को पकड़ना भी असंभव है।"

शल उत्तेजित होकर बोला—"तुम मुझे बताओ तो कि घोड़े कहाँ हैं? मैंने तो नाम ही इनका आज सुना।"

सारथी ने जवाब दिया—"हम जिस दिशा में जारहे हैं उसी दिशा में वामदेव ऋषि का आश्रम है। वरुणदेव ने वामदेव को ये घोड़े दिये

हैं। वरुण के घोड़े, सो उनके वेग का तो पूछना ही क्या? बिजली की चपलता और वेग भी उनके सामने पानी भरते हैं।"

इस प्रकार कहते-कहते सारथी ने बताया कि "महाराज, सामने वह आश्रम दिखाई दे रहा है।"

राजा ने कहा—"तो आश्रम की ही तरफ रथ को ले चलो।"

सारथी बोला—"महाराज, न जाने क्यों मेरा मन उधर जाने को नहीं होता। मैं कहता हूँ कि इन्हीं घोड़ों को और जोर से हाँकेंगे तो हिरण पकड़ा जायगा। अब तो वह भी थक गया होगा।"

राजा बोला—"इसमें मन के मानने न मानने की क्या बात है। तुम्हारा मन कमजोर है। मन को जरा दृढ़ करो तो वह मानने लग जायगा। मन का मानना न मानना यह तो हमारे हाथ की बात है। चलो, रथ को मोड़ो, आश्रम की तरफ हमें हिरण को यों ही नहीं छोड़ देना है।"

रथ आश्रम के दरवाजे पर पहुँचा। शल रथ से उतरकर आश्रम में ऋषि की कुटी पर गया। राजा को देखकर ऋषि वामदेव ने उनका स्वागत किया और आने का कारण पूछा।

राजा ने कहा: "ऋषि महाराज! अभी तो मैं जल्दी में हूँ। बैठने जितना समय नहीं है। मैं शिकार को निकला हूँ। मेरा हिरण भाग रहा है। मुझे किसी भी तरह उसे पकड़ना है। अगर आप कृपा करके अपने घोड़े मुझे देने की कृपा करें तो अपनी मृगया में सफल होऊँ। शिष्टाचार का तो समय नहीं है। ज्यों-ज्यों देर होती जाती है शिकार दूर निकला जारहा है। अतः कृपया घोड़े दीजिए तो मैं रवाना होऊँ।"

राजा की माँग पर ऋषि कुछ विचार में पड़ गये। फिर बोले—

"अच्छी बात है। आपकी इच्छा है तो यही सही। पर ये घोड़े वरुणदेव के हैं। मेरे यहाँ ये धरोहर के रूप में हैं। आप मृग को पकड़

लें, उसके बाद लौटते हुए ये घोड़े आप मुझे सौंपते जायँ। आप राजा हैं इसलिए आपको इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन बात तो यही ठीक है कि जिसकी चीज उसीको शोभा देती है।"

ऋषि के वचन सुनकर राजा ने सारथी से कहा कि जल्दी से घोड़े लेकर अपने रथ में जोत लो। राजा ने ऋषि का आभार माना और बिदा ली।

ऋषि ने विदा देते हुए पूछा—"ऐसे ही चले जाइगा? हमारी कोई सेवा नहीं स्वीकार करेंगे?"

राजा बोला—"और क्या सेवा स्वीकारेंगे? ये घोड़े लिये हैं न!"

ऋषि बोले—"ये तो मेरे यहाँ वरुणदेव की धरोहर हैं। अब आपके पास मेरी धरोहर है। इसलिए काम होजाने पर इनको वापस कर दीजिएगा।"

राजा ऋषि को प्रणाम करके रथ पर चढ़ा और सारथी ने घोड़ों की लगाम अपने हाथ में ली न ली इतने में तो घोड़े हवा से बातें करने लगे। राजा चारों ओर निगाह डाले और देखे इतने में तो मृग सामने दिखाई दिया। राजा ने शर-संधान किया और एक क्षण में तीर निशान पर बैठा। राजा के हर्ष का पार न रहा।

कुछ देर विश्राम करके राजा वापस लौटे। सारथी ने पूछा—"हमें तो ऋषि वामदेव के आश्रम की तरफ चलना है न? घोड़े उनको वापस लौटाने हैं और हमारे घोड़े जो वहाँ हैं उनको ले लेना है।"

"रहने भी दो उन घोड़ों को। वे दो दिन आश्रम में ही रह जावेंगे तो क्या बिगड़ जायगा?"

"पर महाराज! ये वरुण के घोड़े तो हमें ऋषि को वापस लौटाने हैं न?" सारथी ने कहा।

"तुम बड़े मूर्ख हो जी!" राजा ने झिड़ककर कहा, "घोड़े वापस

करने की चिन्ता मुझे नहीं है। तुम्हारे जैसे नौकरों को जरा शह दी कि सिर पर चढ़ते हैं और अपनी मर्यादा भूलते हैं। व्यर्थ की बातें न करो और रथ हाँके जाओ। अभी हमें सीधे अपने नगर को चलना है। वहाँ चलकर रानियों को, कुमारों को, मंत्रियों को, प्रजाजनों को ये घोड़े बताने भी तो हैं। फिर इतना इनसे काम लिया है तो इनकी कुछ सेवा भी हम न करें ?"

सारथी ने रथ नगर की ओर फेरा। राजधानी में पहुँचने के बाद राजा के हुक्म से घोड़ों को राजमहल में छोड़ा और अपने घर गया।

उसके बाद तो कितने ही सूर्य उदय और अस्त हुए पर घोड़े आश्रम नहीं पहुँचे। यह देखकर ऋषि ने अपने शिष्य से कहा—"आत्रेय ! तुम महाराज शल के पास जाकर वरुण के घोड़े वापस ले आओ। आज तक हमने राह देखी। घोड़े नहीं आये। राजा राजकार्य में उन्हें भेजना भूल गये होंगे।"

आत्रेय राजा शल के नगर में आया और राजमहल में जाकर राजा से बोला—"महाराज ! गुरु वामदेव ने मुझे भेजा है। वरुण के घोड़े आप मुझे लौटा देने की कृपा कीजिए तो मैं वापस जाऊँ।"

राजा ने ब्रह्मचारी आत्रेय से कहा—"ब्रह्मचारी, आपको जल्दी हो तो पधारिए। ऋषि वामदेव से मेरा प्रणाम निवेदन कीजिएगा और कहिएगा कि ये घोड़े तो राजमहलों की शोभा बढ़ानेवाले हैं, आश्रमों में शोभा नहीं पाते; इसलिए इनको तो मैंने रख लिया है। मेरे जो घोड़े आप वापस लाये हैं सो उनको वापस लाने की कोई अवश्यकता नहीं थी। उनको तो मैं कभी का आश्रम को अर्पण कर चुका हूँ। अतः उनको आप वापस लेजाइए। गुरुदेव से यह भी निवेदन करें कि और कभी घोड़ों की आवश्यकता पड़े तो मुझे आज्ञा करें। मैं सेवा में उपस्थित कर दूँगा।"

राजा के ये बचन सुनकर आत्रेय बड़े असमंजस में पड़ा। राजा के उत्तर से मन में वह बहुत पीड़ित हुआ, पर अपनी मर्यादा को ध्यान में रखकर बोला :

"बहुत अच्छा राजन् ! आप जैसा कहते हैं वैसा ही मैं ऋषि वामदेव जी को कह दूँगा। पर मैं एक निवेदन अवश्य करना चाहता हूँ। मेरा ऐसा खयाल है कि ऐसे घोड़े तो आश्रम में ही शोभा पा सकते हैं, भोग-विलास वाले राजमहलों में नहीं। आपके जो घोड़े मैं अपने साथ लाया हूँ उनको मैं वापस नहीं लेजा सकता। वे आपके हैं और जो घोड़े आप लाये हैं वे न तो आपके हैं न ऋषि वामदेव जी के। वे तो वरुणदेव के हैं। न तो उनको आप रख सकते हैं न गुरु जी उन्हें आपको दे सकते हैं। आपको उपयोग के लिए गुरुजी ने दिये यह भी उनकी भूल थी। बिना गुरुजी की स्वीकृति के आप कहते हैं कि 'घोड़े मैंने रख लिये हैं' ! यह कहना शर्म की बात है। इतना ही नहीं, मुझे तो यह निरा अधर्म लगता है। आपको ऐसा अधर्म शोभा नहीं देता महाराज !"

आत्रेय के वचन राजा को तीर-से लगे। वह रूखे स्वर से बोला—"तुम तो ब्रह्मचारी हो। तुम क्या जानो कि कौन चीज आश्रम में शोभा पाती है और कौन-सी महलों में। तुम और तुम्हारे गुरुजी इनका भेद नहीं समझ सकते। यह तुम लोगों का विषय नहीं है। तुम लोग तो वेद पढ़ा करो और तप किया करो। तुम बनवासी लोग जब धर्माधर्म की बातें करते हो तो मुझे गुस्सा आता है। जंगल में रहने के कारण तुम लोग धर्म को भी जंगल में लेजाकर बसाना चाहते हो। बस कीजिए। हम दुनियादार लोग धर्माधर्म का फैसला स्वयं कर लेंगे। आपको कष्ट करने की जरूरत नहीं। आप लोग इतने भावुक हैं कि जरा-जरा-सी बात में धर्माधर्म की तराजू लेकर तौलने बैठ जाते हैं। आप तो पधारिए और गुरुजी से निवेदन करदें कि वे घोड़े आश्रम के योग्य नहीं हैं इसलिए मैंने रख लिये हैं।"

राजा के ये वचन सुनकर आत्रेय क्षणभर विचार में पड़ गया। वह जाते-जाते बोला—

"राजन्, मैं गुरुदेव का संदेश लेकर आया था और आपका उत्तर लेकर जाना पड़ रहा है। पर मैं असमंजस में हूँ कि यह उत्तर राजा शल अपने अंतःकरण से देरहे हैं या उनके अंदर बैठा कोई दूसरा देरहा है। राजन्! मैं आपको यह स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि आपका यह उत्तर गुरुदेव सहज में ही स्वीकार नहीं करेंगे। आप फिर विचार कर लीजिए।"

राजा ने तिरस्कार से कहा—"अब चले भी जाओ ब्रह्मचारी! तुम्हें इतनी भी समझ नहीं है कि जो सारी पृथ्वी का राज्य-संचालन करते हैं वे बिना समझे कुछ बोलेंगे? किसी दूसरे के रचित वेद जो रटा करते हैं वेही जैसे-तैसे बिना विचारे बोलते हैं। तुम अब जाओ। मैंने जो कुछ कहा है उसमें मुझे कुछ भी कम नहीं करना है।"

राजा के वचन सुनकर आत्रेय आश्रय में लौट आया और ऋषि से सारे समाचार कहे। ऋषि ने सब बातें शांति से सुनीं। राजा की इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण दुःखी हुए। कुछ समय विचार किया। घोड़ों को प्राप्त करने के बारे में क्या करना क्या न करना इसकी उथल-पुथल उनके मन में होने लगी। रात को सोने गये तो वहाँ भी यही विचार चलता रहा। उन्हें नींद नहीं आई।

प्रातःकाल नित्य कर्म से निवृत्त हो ऋषि तुरन्त ही राजा शल के पास जाने को निकल पड़े। आश्रम की सीमा के पास आकर वामदेव आत्रेय से बोले—"बेटा! मैं अपनी धरोहर वापस लेने जाता हूँ। वापस कब लौटूँगा और वहाँ क्या करूँगा यह अभी नहीं सूझ पड़ता है। दूसरे की धरोहर को हड़प जाने की राजा की वृत्ति मैंने समझ ली है। इससे मेरी आत्मा बहुत उद्विग्न होगई है। इससे मेरे अंतर में एक अग्नि प्रज्वलित होरही है। मैं

नहीं जानता, बेटा, कि यह अग्नि मुझे जलावेगी या राजा को भस्म करेगी। तुम आश्रम की सम्हाल रखना। सब ब्रह्मचारी प्रेम से एक होकर रहना। आज सम्पूर्ण दुनिया में दुर्बुद्धि की लहरें उठ रही हैं। शल राजा तो उसकी एक निशानी मात्र है। तुम अपनी पवित्रता से ऐसी दुर्बुद्धि को दूर करना और आश्रम के वातावरण को पवित्र रखना। मैं जाता हूँ।"

वामदेव ऋषि शल राजा की राजधानी की ओर रवाना होगये। उनके हाथ में लकड़ी थी, कमर में एक वस्त्र लपेटा हुआ था, सिर पर जटा थी, चरणों में पादुका थी। उनके बायें हाथ की अंगुलियाँ और अंगूठा तथा ओष्ठ जप करने में लगे हुए थे। नगर में पहुँचते ही ऋषि सीधे राजा के महलों में गये।

ऋषि वामदेव को आते देखकर राजा जोर से आवभगत करता हुआ बोला—"पधारिए, पधारिए महाराज! आपने मुझपर बड़ा उपकार किया।" और उसने उनका यथोचित सत्कार किया और आसन दिया।

वामदेव बैठते-बैठते बोले—"राजन्! उपकार तो राजाओं का जगत पर होरहा है, क्योंकि वे मानव-समाज को नियम में रखकर जगत पर उपकार ही करते हैं। कहिए, राज्य में सब कुशल तो है?"

शल बोला—"आपकी कृपा जहाँ हो वहाँ सब कुशल ही होनी चाहिए। कहिए, कैसे पधारना हुआ?"

वामदेव ने जवाब दिया—"मेरे आने का कारण तुम जानते हो। मैं अपने घोड़े वापस लेने आया हूँ। मेरे घोड़े वापस करदो तो मैं वापस आश्रम लौट जाऊँ। प्रभु तुम्हारा कल्याण करें।"

वामदेव के वचनों को सुनकर राजा हँसकर बोला—"केवल इन दो घोड़ों के लिए आपने इतना कष्ट किया? ऐसे क्षुद्र कारण से आपकी तपश्चर्या भंग हो यह उचित नहीं है।"

वामदेव से न रहा गया। बोले—"राजन्, तुम्हारे मुँह से ऐसे वचनों को सुनकर मन में न जाने क्या होने लगता है। आत्रेय को तुमने घोड़े भेज दिये होते तो मुझे न आना पड़ता। अब मुझे घोड़े दो तो मैं जाऊँ।"

ऋषि के वचन सुनकर राजा बोला—"आप इस प्रकार क्रोध करके मुझे घबराहट में नहीं डाल सकते। आपकी लाल-लाल आँखें देखकर घबरा जानेवाले राजा दूसरे होंगे। आप जैसे ब्राह्मणों को ऐसे घोड़ों की आवश्यकता नहीं। आपके लिए तो दो बैल या बहुत हुआ तो दो खच्चर काफी हैं। ये घोड़े मृगया करनेवाले राजाओं के योग्य हैं। फिर आप लोग तो कहते हैं कि भगवान् सूर्यनारायण अपनी किरणों द्वारा आप लोगों को दिव्यलोक में खींच लेते हैं, तो फिर आपको ऐसे स्थूल वाहनों की क्या आवश्यकता है?"

वामदेव ने उत्तर दिया—"राजन्, सूर्य भगवान् अपने तेज से हमें ही नहीं सारे जगत को अपनी ओर खींचते रहते हैं। यह बात बिल्कुल ठीक है और मुझे अपने वाहन के लिए घोड़े चाहिएँ, बैल चाहिएँ या खच्चर चाहिएँ, यह मेरे देखने की बात है। ये घोड़े तो मेरे यहाँ धरोहर के रूप में थे। ये न तुम्हारे हैं न मेरे। मेरी धरोहर मुझे वापस दे दो, यही मेरी माँग है।"

राजा फिर बोला—"ऋषि महाराज! आप आज्ञा दें तो दूसरे हजार घोड़े आपकी सेवा में उपस्थित करूं। आप कहें तो उतने ही रथ भी हाजिर करदूँ। मणि माणिक भी दूँ। पर ये घोड़े वापस नहीं दूँगा। ये तो राज-भवन में ही शोभा दे सकते हैं। आश्रम में नहीं।"

"महाराज!" वामदेव ने कहा, "ऐसी तो बहुत-सी चीजें हैं जो आश्रम में नहीं पर राजभवन में शोभा देती हैं। पर यह शोभा का सवाल

नहीं है। घोड़े वरुणदेव के हैं। मुझे धरोहर के रूप में दिये। मैंने आपको उपयोग के लिए दिये। अब आपका काम होगया। अतः मुझे वापस कर दीजिए।"

"लेकिन आप वरुणदेव से कह दीजिए कि वे इनके बदले में मेरे पास से दूसरे एक लाख घोड़े ले लें।" राजा ने कहा।

"राजन्! दूसरों की धरोहर इस प्रकार हम रख सकते हैं भला?" ऋषि ने जरा क्रोध में कहा।

"इसमें पराये की धरोहर की बात ही क्या है?" राजा ने कहा, "वरुणदेव के उपयोग में तो ये आ ही नहीं रहे हैं। उनकी जगह मेरे उपयोग में आवेंगे तो समाज का अधिक लाभ होगा। आप वरुणदेव से यह कहेंगे तो मेरा विश्वास है कि मेरी यह बात उनकी समझ में आजायगी। और अगर वे आपके पास अपनी चीज माँगने आवें तो आप उनको मेरे पास भेज दें। मैं उनसे समझ लूँगा।"

राजा के इन वचनों को सुनकर ऋषि अपने अन्तर के क्रोध को अधिक न दबा सके। वह बोल उठे—"राजन्! प्रजा की सम्पत्ति की रक्षा करने वाला राजा शल ये वचन बोल रहा है? लोकधर्म और कल्याण का पालन करनेवाले राजा के ये शब्द हैं? शास्त्र कहते हैं कि राजा में विष्णु का अंश होता है। ऐसा राजा ये शब्द बोल रहा है? दुनिया के शास्त्रो! इस राजा के वचन सुनलो। इस राजा के अन्तर की बातें समझ लो और फिर हिमालय की चोटी पर चढ़कर जोर-जोर से कहो कि जो ऐसा कहे वह राजा नहीं, जो ऐसे शब्द उच्चारण करे वह समाज का रक्षक नहीं—राजगद्दी का अधिकारी नहीं। राजन्! दूसरे की धरोहर को हड़प करना और ऐसा करते हुए मुख पर धर्मवाक्य रखना यह इस युग की एक विशेषता होरही है। मानव हित के नाम पर तुम लोग यह व्यवसाय

करते हैं। याद रखो परमात्मा यह सब सहन नहीं करेंगे। लोगों को अगर पता लग जाय कि तुम्हारे शब्दजाल के पीछे पामर स्वार्थ है तो लोग तुम्हें तुरन्त फाड़ खायंगे। पर लोग भोले हैं। लोगों को धोखा देकर दूसरे का माल हड़प करने की यह वृत्ति तुमको जलाकर भस्म कर देगी। तुम और विचार करलो। अभी भी समय है। घोड़े वापस दे दो और सुख से राज्य करो। मैं घोड़े वापस लिये बिना लौटनेवाला नहीं हूँ।" यह कहकर ऋषि आसन से उठ खड़े हुए।

राजा ने भी क्रोध से गरम होकर जवाब दिया—"ऋषिजी, मैं शांति से कहता हूँ तो आप समझते नहीं हैं और व्यर्थ की लाल आँखें बताते हैं। जाइए, नहीं देता मैं घोड़े आपको। जो आपसे बने कर लीजिए। और अब इनके बदले आपको और कुछ दूँगा भी नहीं। प्रतिहारी! इन ऋषि महाराज को महल से बाहर करदो।"

शल के ये वचन सुनकर वामदेव ऋषि की आँखें एकदम लाल होगईं। नथुने फूल गये। ओंठ फड़कने लगे। शरीर काँपने लगा। वे बोले—"राजन्! खबरदार, जो किसीने मेरे शरीर को हाथ लगाया। मैं चाहूँ तो अभी तुमको भस्म कर सकता हूँ। पर मैं वृती हूँ, इस कारण लाचार हूँ। पर जगत का नियमन करनेवाली शक्ति जरूर न्याय करेगी, इसमें मुझे किसी प्रकार की शंका नहीं है। आज तूने इस शक्ति के विरुद्ध कार्य किया है। तुझे इसका दंड अवश्य मिलेगा।"

वामदेव के मुँह से ये वचन निकले ही थे कि उसी क्षण पृथ्वी को फाड़कर चार राक्षस निकले। उन्होंने शल को पकड़कर वहीं खत्म कर दिया। राजा के मरते ही उसके रक्षक मारे डर के भाग गये। राक्षस वामदेव को प्रणाम करके अंतर्ध्यान होगये। ऋषि वहीं खड़े रहे। राक्षसों के चले जाने के बाद राजा के संबंधी आये और उन्होंने उसका दाहसंस्कार

किया। उसके बाद शल का भाई दल गद्दी पर बैठा। राज्य के सरदारों ने दल के चरणों में सिर नवाया और राजभक्ति की शपथ ली।

दल के राजा होने के बाद वामदेव उसके पास गये और बोले—"राजन्! प्रभु तुम्हारा कल्याण करें। मेरे घोड़ों की खातिर राजा शल ने अपने प्राण गंवाये। अब तुम वे मुझे वापस करदो और सुखपूर्वक राज्य करो।"

ऋषि के वचन सुनकर दल क्रोधित होकर बोला—"महाराज, मैं शल नहीं हूँ। दल हूँ। तुम्हारे राक्षसों से डर जानेवाला नहीं हूँ।" इतना कहकर अपने आदमियों को पुकारकर बोला—"कोई है? लाना मेरा धनुष और जहर में बुझा बाण ताकि एक ही बाण में इनको अपने भाई के पास ही पहुँचा दूँ।"

धनुष आया और दल ने उसपर बाण चढ़ाकर ऋषि को ताककर छोड़ा। पर वह ऋषि की ओर जाने के बदले बगीचे में दल का जो दस वर्ष का कुमार खेल रहा था उसे जा लगा। कुमार वहीं खत्म होगया। महल में हाहाकार मच गया। राजा को इससे और क्रोध हुआ। उसने दूसरा बाण धनुष पर चढ़ाकर संधान किया। पर वह बाण छोड़ न सका; उसका सारा शरीर जड़ होगया। उसने बाण छोड़ने की बहुत कोशिश की, पर सब व्यर्थ। वह अपनी जगह से जरा भी हिल-डुल नहीं सका। कुमार के मर जाने से राजा बहुत दुखी होगया था। अपनी इस हालत से और भी दुखी हुआ। उसका क्रोध उतर गया। वह दीन होगया। ऋषि से दीन वचन बोला—"वामदेव! मैं हारा। मुझे क्षमा कीजिए। आपके घोड़े आप लेजाइए। मेरे कुटुम्ब पर कृपा कीजिए। मेरे कुमार को सद्गति दीजिए।"

दल के ये दीन वचन सुनकर वामदेव का क्रोध शान्त हुआ। वे

बोले—"दल ! अन्त में प्रभु ने तुझे सद्‌बुद्धि दी। इससे मैं प्रसन्न हुआ हूँ। तेरे भाई की और तेरी दुर्बुद्धि से तेरे कुल का विनाश हुआ। आज यह विनाश इतने पर ही अटक गया। नहीं तो तेरे सारे कुल का संहार होने पर भी नहीं अटकता। राजन् ! मैं जाता हूँ। आज तुझे जो सद्-बुद्धि आई है उसका पोषण करते रहना। और दूसरे की जो सम्पत्ति तेरे पास धरोहर के रूप में है उसका उपभोग करने से बचना। तुझे मालूम है कि इस वृत्ति का सेवन करनेवाले अस्तेय व्रत को सिद्ध करते हैं और परमपद को पाते हैं। जा सुख से राज्य कर। तेरा कल्याण हो !"

इतना कहकर ऋषि घोड़े लेकर अपने आश्रम चले गये।

१६

बलि राजा

बलि राजा ने अश्वमेध यज्ञ का आरंभ किया था। एक समय था जब देवराज इन्द्र ने बलिराजा का संपूर्ण तेज हर लिया था। दानवराज की अवस्था बहुत खराब होरही थी। पर समय आया और भृगुकुल के ब्राह्मणों ने बलिराजा में प्राण-संचार किया और उससे विश्वजित यज्ञ कराया। उसके बाद तो भृगुलोगों के प्रभाव से बलिराजा ने अग्नि से स्वर्णरथ प्राप्त किया; इन्द्र के घोड़ों के समान तेजस्वी घोड़े प्राप्त किये, रथ पर फहराने वाली ध्वज, धनुष, बाण, तूणीर, दिव्य कवच आदि प्राप्त किये। पितामह ने उसे कभी न कुम्हलानेवाली पुष्पमाला दी और शुक्राचार्य ने शत्रुओं का कलेजा दहलानेवाला शंख दिया।

युद्धकी इन सारी सामग्रियों और महासागर की तरंगों के समान लहरानेवाली विशाल दानव सेना को लेकर बलि ने इन्द्र पर धावा बोल दिया। बलि की विशाल सेना को देखकर इन्द्रासन मानो डोलने लगा। नन्दनवन के समान स्वर्ग के वन और उपवन; मधु चूसकर मत्त हुए भ्रमरों के गुंजारव; फल और फूल के भार से झुके हुए स्वर्ग के वृक्ष; हंस, मोर, चातक, चक्रवाक के कल्लोल से मनोहर स्वर्ग के जलाशय; सारे स्वर्गधाम चारों ओर खाई के समान दिखाई देनेवाली आकाशगंगा; नित यौवन में मदमाती अपसराएँ; वहाँके नृत्य और गीत; वहाँके आनन्द और उल्लास वाले स्वर्ग पर एक बार फिर अधिकार करने की नीयत से राजा बलि ने देवी-देवताओं के कलेजों को फाड़ डालनेवाला घोर शंखनाद किया।

बलि का शंखनाद सुनकर सारे स्वर्ग में खलबली मचगई। अग्नि और वरुण, वायु और अश्विनीकुमार, इंद्र और इंद्राणी, मेनका और रंभा, सभी स्वर्ग के चौक में दौड़ आये—इन्द्र के मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उसने उदास मुँह से गुरु बृहस्पति से पूछा—"गुरुदेव! मुझे डर लगता है कि इस बार शायद हमारे शत्रु का प्रयास सफल हो जायगा। बलि आज इतनी प्रचंड तैयारी करके आया है कि उसका सामना करना हम लोगों के लिए कठिन है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए क्या उचित है, यह आप कृपा करके बताइए।"

देवराज इंद्र के इन वचनों को सुनकर गुरु बृहस्पति बोले— "देव-राज! तुम्हारा कथन यथार्थ है। जबकि विजय की आशा जरा भी नहीं है तब मात्र बहादुरी दिखाने के लिए युद्ध में उतरना मेरे मन सिवा मूर्खता के और कुछ नहीं है। आज इन दानवों का सामना करने में कोई सार नहीं है। अगर हमें जीवित रहना है तो, और आज नहीं तो भविष्य में फिर कभी फिर स्वर्ग का उपभोग करना हो तो, आज अच्छा यही है कि सब एक बार स्वर्ग को नमस्कार करके उससे बिदालें। जब फिर देव की इच्छा होगी तब इन बनों और उपवनों में आकर स्वतन्त्रता का उप-भोग करेंगे। आज बलि के उदय का जमाना है। हमारे लिए रात्रि है। जब यह रात बीतेगी तब हमारा दिन होगा। रात और दिन का यह उतार-चढ़ाव प्राणिमात्रके लिए सिरजागया है, सो हम उससे मुक्त कैसे रह सकते हैं?"

गुरु बृहस्पति के ये वचन सुनकर इन्द्र ने स्वर्ग सारा खाली किया और देवी-देवताओं को लेकर दूसरी जगह रहने लगा।

उसके बाद बलिराजा और दानवों ने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया और उन्होंने एक बार फिर त्रैलोक्य पर अपना झंडा फहरा दिया। बलि के इस सारे ऐश्वर्य के पीछे भृगुकुल का हाथ था।

एक बार नर्मदा नदी के किनारे बलिराजा ने बहुत बड़ा अश्वमेध यज्ञ आरंभ किया। भृगुकुल के ब्राह्मण इस यज्ञ में ऋत्विज थे। यज्ञ-क्रिया धूम-धाम से चल रही थी। 'स्वाहा' 'स्वाहा' मंत्रों का घोष चारों ओर होरहा था। अग्नि की लपलपाती शिखाएँ होमे हुए द्रव्यों को भस्मसात् कर रही थीं। यज्ञकुंड का धुंआ सारे मंडप के चारों ओर फैलकर बाहर निकलता था। दानवराज एक सम्राट् के जैसी नजर से चारों ओर देख रहे थे। इकट्ठे हुए दानव इस यज्ञ के बाद चौदह ब्रह्मांडों के विजय की आशा से यज्ञ-कार्य में व्यस्त थे।

इतने में एक ब्राह्मण ने यज्ञशाला में प्रवेश किया। शरीर से वह ठिंगना था; उसके हाथ में दंड और छत्र था, पानी से भरा हुआ एक कमंडलु था। पतली-सी कमर पर मुंजा थी। कंधे पर जनेऊ था। और बगल में मृगचर्म था।

भाद्रपद शुक्ल १२ के दिन अदिति के गर्भ से इस ब्राह्मण का जन्म हुआ था। उसका जन्म हुआ तब दिशाएँ निर्मल होगईं, जलाशयों के पानी स्वच्छ होगये, ऋतुएँ अपने-अपने ऋतुधर्म को प्राप्त होगईं, यज्ञ की अग्नि अधिक प्रकाशित होने लगी, जगत के साधु पुरुष मन में स्वस्थता अनुभव करने लगे और तीनों लोक में मानो शांति स्थापित होगई।

कद में ठिंगने होने के कारण लोग उसे वामन कहने लगे।

वामन का कद छोटा था फिर भी सबको ऐसा लगता था मानो उनका जन्म किसी विश्वकार्य की सिद्धि के लिए हुआ है। वामन का जब उपनयन-संस्कार हुआ तब स्वयं भगवान् सूर्यनारायण ने उनको गायत्री मंत्र का उपदेश दिया था, बृहस्पति ने उनको ब्रह्मसूत्र पहनाया, पृथ्वीमाता ने उनको मृगचर्म पहनाया, आकाश ने उनपर छत्र चढ़ाया, पिता कश्यप ने उनके घास की मेखला बाँधी, माता अदिति ने उनको

कौपीन पहनाया, स्वयं ब्रह्मा ने उनको कमंडलु दिया, सप्तर्षियों ने उनको कुश दी, सरस्वती ने उनको रुद्राक्ष की माला दी, कुबेर ने उनको भिक्षा-पात्र दिया, और जगन्माता उमा ने उनको शिक्षा दी।

वामन को दूर से ही आते देख बलि राजा उठ खड़ा हुआ और भृगु लोग उस ब्राह्मण के तेज से चकाचौंध होते दीख पड़े। यज्ञशाला में वामन के पदार्पण करते ही बलिराजा बोल उठा—"पधारिए बटु महाराज ! आज मेरा अहोभाग्य है।"

वामन के और पास आने पर राजा ने उनको आसन दिया और अश्वमेध के पवित्र जल से उनका पाद-प्रक्षालन किया।

वामन के पैर धोते-धोते राजा बोला—"आज मेरा भाग्योदय हुआ लगता है। आपका उज्ज्वल देह देखकर ऐसा मालूम होता है मानो ब्रह्मर्षियों का तेज ही शरीरधारण करके यहाँ अवतरित हुआ है। आज मेरा सारा कुल पवित्र होगया। मेरी इक्कीस पीढ़ियाँ तर गईं। मेरा यज्ञ सफल हुआ। यह भूमि आपके चरण-स्पर्श से कृतार्थ हुई। महाराज ! आप कुछ माँगना चाहते हैं, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। आज्ञा कीजिए, आपकी क्या इच्छा है ? अन्न-पानी, सोना-चाँदी, राज-पाट, ढोर-डंगर, हाथी-घोड़े, हीरे-मानिक, आपकी जो इच्छा हो मांगिए। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा हो तो वह भी मुझे बताइए।"

दानवराज के इन आदरसूचक शब्दों को सुनकर वामन बोले—"राजन्, तुम्हारा यह कहना तुमको शोभा देता है। तुमसे इसी प्रकार की आशा थी। ये भृगुलोग जिस राजा के ऋत्विज हों उससे इसी प्रकार की आशा होनी चाहिए। तुम प्रह्लाद के पौत्र हो; तुम्हारे सारे कुल में कोई प्राणहीन पुरुष जन्मा ही नहीं। माँगनेवाले को देने का वचन देकर फिर न देना यह तुम लोगों ने जाना ही नहीं।"

"दानवराज ! मैं तो तुम्हारे पास से कुछ जमीन माँगने की इच्छा से आया था। थोड़ी यानी सिर्फ साढ़ेतीन पाँव। वे भी मेरे। मुझे इससे अधिक कुछ नहीं चाहिए।"

क्षीरसागर के अधिपति के पास से कोई एक घूँट दूध माँगे तो कैसा लगे ? करोड़पति के पास से कोई फूटी कौड़ी माँगे तो क्या हो ? वामन की माँग पर दानवराज को भी ऐसा ही लगा। वह हँसता हुआ बोला—

"महाराज ! अपका देह तो कुमार का है पर वचन वृद्ध के-से मालूम पड़ते हैं। फिर भी जब आपकी माँग का विचार करता हूँ तो आप बित्ते-से लगते हैं। मेरे समान तीनों लोकों के स्वामी के पास से आपने साढ़े तीन पैर जमीन ही क्यों माँगी ? अधिक नहीं तो आपका गुजारा चल सके इतनी जमीन तो माँगनी ही थी। इतनी-सी जमीन तो देने में भी मुझे लज्जा आती है।"

बलिराजा के इन वचनों को सुनकर वामन बोले—"राजन् ! मनुष्यमात्र के मन में तृष्णा ने इतना गहरा घर बना लिया है कि चौदहों ब्रह्मांड भी उसमें समा जायें तो भी वह शांत नहीं होसकती। जिसे साढ़े तीन पैर जमीन से संतोष नहीं उसे किसीसे संतोष नहीं होसकता। इसीलिए साधु पुरुष जरूरत जितनी चीज की इच्छा करके संतोष मानते हैं। मुझे तो साढ़ेतीन पैर पृथ्वी से संतोष होजायगा। वही मुझे दे दो।"

वामन के इन वचनों को सुनकर बलिराजा बोले—"जैसी आपकी इच्छा। यही आपकी इच्छा हो तो यही सही।"

तुरंत ही वामन बोल उठे—"राजन, यों नहीं। तुम्हारे लिए इतनी-सी जमीन देना कोई बड़ी बात नहीं है, पर मैं चाहता हूँ कि तुम यह दान संकल्पपूर्वक करो।"

बलि राजा और वामन की इस बातचीत के समय गुरु शुक्राचार्य दानवराज के पास ही बैठे थे। वामन ने जब संकल्प की बात कही तो वह तुरंत बोल उठे, "इसमें संकल्प की क्या बात है। बड़े-बड़े महाराज्य आपने दान कर दिये हैं तब संकल्प की बात नहीं उठी सो जरासी साढ़ेतीन पाँव की धरती में संकल्प हो यह कोई बात है ? दानवराज के शब्दों का बल संकल्प से कुछ कम है ? आपको वस्तु चाहिए। संकल्प से क्या करना है ?"

वामन ने जवाब दिया—"गुरुराज ! आप भूल करते हैं। बिना संकल्प का त्याग, त्याग नहीं होता। उसमें त्याग की सात्विकता नहीं होती। जिस त्याग के पीछे देनेवाले का बुद्धिपूर्वक निश्चय नहीं वह दान पवित्र नहीं होता। और मेरा जैसा ब्राह्मण ऐसा दान स्वीकार नहीं कर सकता। राजन् ! तुम्हारी इच्छा हो तो मुझे मेरा बताया हुआ संकल्प-शुद्ध दान दो। नहीं तो रहने दो। भगवान तुम्हारा कल्याण करे !"

वामन के इन वचनों को सुनकर दानवराज ने संकल्प के लिए पानी मँगाया। यह देखकर गुरु शुक्राचार्य बलि राजा से बोले—"राजन् ! यह मामला कुछ मेरी समझ में नहीं आ रहा है। इस ब्राह्मण को जबसे देखा है तबसे मैं विचार में पड़ गया हूँ। छोटा-सा कद, इतना प्रगल्भ तेज, इतनी सुन्दर और मनोहर वाणी, और क्षुद्र-सी माँग ! मेरे मन में इन सबका मेल नहीं बैठता। इस छोटे-से शरीर और जरा-सी माँग के पीछे मुझे तो कुछ और ही अगम्य रहस्य मालूम होता है। मेरे मन में ऐसा भासित होता है कि दानवों के ऊपर फिर कोई न कोई आफत आने वाली है। इसलिए, राजन्, मेरी विनती है कि आप इस दान का संकल्प न करें।"

बलि राजा तुरत बोल उठे—"गुरु महाराज, मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या किसी भी शुभ संकल्प का परिणाम अशुभ होसकता है ? अगर मेरे

दान का संकल्प शुद्ध होगा तो अकेला यही दान दानवों को अनेक आफतों और विघ्नों से बचा लेगा। क्या आपको ऐसा अनुभव नहीं होता ? गुरुदेव ! जब मैंने साढ़े तीन पाँव जमीन देना स्वीकार किया तभी संकल्प तो हो चुका। ये बटुक ब्राह्मण नियमित रूप से संकल्प चाहते हैं तो इसमें मैं कोई हानि नहीं देखता।"

शुक्राचार्य से नहीं रहा गया—"राजन्, इन ब्राह्मण के सामने ही आपको कुछ कहना पड़ता है इसलिए क्षमा कीजिएगा। मुझे तो इस सारी माँग के पीछे गूढ़ रहस्य दिखाई देता है। आपने तो जो संकल्प कर लिया है उससे पीछे फिरनेवाले नहीं हैं। पर इन ब्राह्मण के पैर जितने छोटे दिखाई देते हैं उतने छोटे नहीं मालूम पड़ते। और त्याग में कुछ आगे बढ़ जाने के बाद कभी स्थिति ऐसी विषम होजाती है कि पीछे हटना शोभा नहीं देता और आगे बढ़ने की शक्ति नहीं रहती। ऐसे समय खुशी से प्रारंभित त्याग गले में भार-रूप होजाता है और मन में ऐसा लगने लगता है कि त्याग करने से पहले की स्थिति अच्छी थी। इसलिए अभी भी समय है; इन बटुक देव से क्षमा माँगलो। व्यवहार में ऐसा असत्य असत्य नहीं होता।"

बलि ने शुक्राचार्य का कथन सुना। क्षणभर उसपर विचार किया। अंतर में गहरे उतरकर अपने मन की थाह ली और बोले—"गुरुदेव ! मैं भक्तराज प्रह्लाद का पौत्र हूँ। मेरे मुँह से एक बार जो निकल गया सो निकल गया। अब मेरा संकल्प वापस नहीं होसकता।"

शुक्राचार्य फिर बोले—"परंतु राजन् ! तुमको कितने गहरे जाना पड़ेगा, इसका भी विचार किया है ?"

दानवराज ने कहा—"इसका विचार तो नहीं किया। पर अभी मैंने जो वचन दिया है उसका पालन न किया तो कितना गहरा जाना पड़ेगा

इसका खूब विचार कर लिया है। मैं इन ब्राह्मण को मना नहीं कर सकता। लाइए संकल्प के लिए पानी। मुहूर्त्त निकला जाता है।"

शुक्राचार्य की इतनी सारी बातों का राजा ने कुछ भी खयाल नहीं किया तो गुरु का क्रोध बढ़ आया। वह बोले—"राजन्! तुमने हमेशा मेरी बातों का आदर के साथ पालन किया है, पर आज न जाने किस कारण से मेरी बातों की अवगणना कर रहे हो। मुझे ऐसा लगता है कि अब दानवों के पतन के दिन आगये। राजन्, याद रखना; मेरी बात मिथ्या नहीं हो सकती। तुम मेरी बातों की अवहेलना करने के कारण नरकगामी होओगे और दानवों का सत्यानाश होगा।"

गुरु के तथा अपने दूसरे बन्धुओं के ऐसे वचनों और अनबोले विरोध को देख-सुनकर बलि अपने संकल्प को पूरा करने में और भी दृढ़ होगया।

संकल्प का जल राजा की हथेली से नीचे गिरा न गिरा कि वामन देवता का देह अधिकाधिक बड़ा होने लगा। एक क्षण पहले जो बित्तेभर का था वह देखते इतना बड़ा होगया कि उसके सारे अंग चारों दिशाओं में फैल गये—बलि राजा को वामन की जगह भगवान के विराट् स्वरूप का दर्शन हुआ। पृथ्वी, आकाश, दिशाएं, गुफाएं, सागर, चन्द्र-सूर्य, पर्वत सब कुछ वामन बटुक के विराट् देह में दिखाई देने लगे और ऐसा होगया कि बलि राजा अपने चारों ओर वामन के देह के सिवा और कुछ देख ही न पाता था।

इन विराट् वामन के पहले पैर से सारी पृथ्वी घिर गई। उसकी बाहुओं से सारी दिशाएं व्याप्त होगईं और पर्वत, वन, सागर, उपवन, सभी एक ही पैसे में समा गये। उसके बाद वामन ने दूसरे पैर से स्वर्ग रोक लिया और तीसरे पैर में सारा अन्तरिक्ष आगया।

छोटे-से दिखनेवाले इस ब्राह्मण ने सारे जगत को हथिया लिया, यह देखकर दानव बड़े क्रुद्ध हुए। मारे क्रोध के उबल पड़े—"अरे! यह ब्राह्मण तो हमारा शत्रु निकला। महाराज! गुरुदेव के कहने पर भी आपने ध्यान न दिया और संकल्प का त्याग नहीं किया, यह ठीक नहीं किया। दान दान की मर्यादा में ही ठीक होता है। पर जो दान दाता का ही विनाश करे वह दान किस काम का? आपने दान का संकल्प किया इसलिए आप तो इस संकल्प से च्युत न हों। पर अगर हम इन ब्राह्मण को मार डालें तो आपका संकल्प भी रह जायगा और हम भी बच जावेंगे। इन ब्राह्मण ने तो तीन पैरों में सारे ब्रह्माण्ड को नाप लिया। अब चौथे पैर के लिए तो जगह ही नहीं रही। इसलिए इनका वध ही करना उत्तम होगा।"

यह कहते-कहते दानव लोग वामन पर टूट पड़े। उन्हें ऐसा करने से मना करते हुए राजा बलि बोला—"भाइयो! जरा ठहरो; जरा शांति रखो। तुमने अभी इस ब्राह्मण बटु को पहचाना नहीं। जिनके बल से हमने स्वर्ग प्राप्त किया वही बल हमसे स्वर्ग छीन ले रहा है। प्राणि का बल है बुद्धि, मंत्र और औषधि। पर ये सब जिस बल के आधार से अपना कार्य करते हैं उस सबके आश्रय को जो तुम मारना चाहते हो यह इष्ट नहीं है। इन ब्राह्मण को तुम साधारण मनुष्य मत समझो। यह तो सचराचर जगत के कारणरूप भगवान के अवतार हैं। इसलिए तुम सब अभी शान्त रहो। इन आदि पुरुषों के हाथों अगर हमारा नाश भी होगा तो इसमें भी हमारा कल्याण ही समाया हुआ होगा, इसमें मुझे कोई शंका नहीं है।"

बलि के ये वचन सुनकर दानव रुके। पर वामन ने तुरंत ही बलि को वरुण के पाश से बाँध लिया और बोले—"तुमने साढ़े तीन पाँव

धरती देने का जो संकल्प किया था उसमें तीन पाँव में तो मैंने तीन लोक—स्वर्ग, पृथ्वी और अंतरिक्ष को ले लिया। अब चौथे पाँव के लिए जगह नहीं है। तुमने वचन साढ़े तीन पाँव का दिया, पर आधे पैर के लिए तो स्थान ही नहीं है। यह आधे पैर पृथ्वी न दोगे तो तुम्हारे लिए नरक में स्थान होगा और जगत में अपकीर्ति होगी। जबतक तुम मुझे आधे पांव धरती नहीं दोगे तबतक तुम्हारी इस पाश से मुक्ति नहीं हो सकेगी।"

वामन के वचन सुनकर बलि बोला—"भगवन्! न तो मुझे नरक का डर है, न बंधन का डर है, और न लोकापवाद का भय है। मुझे अगर किसी बात का डर है तो वह इसका है कि आपकी कृपा न खो दूँ। आज आपने साढ़े तीन पाँव की माँग करके मेरे पास जो कुछ था वह सब ले लिया। यह मैं अपने ऊपर आपकी बड़ी कृपा ही समझता हूँ। मेरे ये भाई-बंधु चाहे जो समझते हों, पर प्रभु! मैं तो अपने भाव सच-सच ही आपको बताता हूँ। जिसपर आपकी संपूर्ण दया होती है उसीका आप सर्वस्व ले लेते हैं। आप मेरा सर्वस्व जबतक ले न लें तबतक मेरे अन्तर में आपके लिए जगह कहाँसे होसकती है? हे अंतर्यामी! मैं अपने वचन से पीछे फिरनेवाला नहीं हूँ। आप अपना चौथा पैर मेरे सिर पर रखें तो मैं अपनेको कृतार्थ समझूँगा। आपने मेरे दिल में से तीनों लोक तो ले लिये। अब चौथा पैर मेरे सिरपर रखें ताकि वहाँ कहीं छिपा हुआ अभिमान पड़ा हो तो वह भी निकल जाय और मैं कृत्य-कृत्य होऊँ।"

बलि के इस प्रकार कहने पर वामन ने बलि के सिर पर अपना पैर रखा और बोले—"राजन्, यह लो मेरा चौथा पैर।"

प्रभु के चरण को अपने सिर पर अनुभव करता बलि राजा बोला—"महाराज! जिस चरण को अपने सिर पर प्राप्त करने में ब्रह्मादि देव कभी ही भाग्यशाली होते हों, जिस चरण को स्पर्श करने के लिए मुनि-

वरों को जन्म-जन्मांतर तक तप करना पड़ता है, जिस चरण को अपने हृदय में स्थापित करने के लिए गोपियाँ यमुना-तट पर भटकती फिरती हैं, जिस चरण के स्पर्श मात्र से पापी से पापी मनुष्य पवित्र होजाता है, वही चरण आज मेरे मस्तक पर रखा गया है। इससे मेरा जीवन तो सार्थक होगया। प्रभो! कृपा के भंडार! आपकी जय हो!"

बलि के सिर पर वामन का पैर आते ही उसके भार से वह पाताल में चला गया। उसके बाद वामन बोले—"दानवराज! यही तुम्हारा स्थायी निवासस्थान होगा। तुम्हारे दानव-बन्धु भी यहीं तुम्हारे साथ रहेंगे।"

तुरंत ही बलि बोला—"और महाराज, आप कहाँ चले?"

"जहाँ से आया था वहीं।" वामन ने उत्तर दिया।

"महाराज!" वामन को पकड़ते हुए बलि बोला—"मैंने जो त्रैलोक्य का राज्य और अपना अस्तित्व खोया सो केवल आपके ही लिए। और आप हैं कि मेरा सब कुछ हरकर मुझे छोड़कर चले। यही आपकी इच्छा हो तो मुझे घोर मृत्यु में डालते जाइए कि जहाँ मुझे कुछ न याद करने को रहे और न कुछ जलन रहे।"

बलि के इस प्रकार उग्र वचन सुनकर वामन भगवान बोले—"राजन! तुम्हें छोड़कर जाने का विचार करूँ तो भी जा नहीं सकता। मैंने तो तुम्हें वरुण-पाश से बाँधा। पर तुम्हारे जैसे लोग मुझे जिस सूक्ष्म पाश से बांध लेते हैं उसमें से मुक्त होना मेरे लिए अशक्य है। मेरे पैर को अपने सिर लेकर तुमने अपने पैर मेरे हृदय में जमा लिये। तुम्हारे जैसा त्याग करनेवाले को छोड़कर जाने की मुझमें शक्ति कहाँ? दानवराज! तुम चिरंजीव होओ। आर्यावर्त्त में जबतक मानव प्राणी बसेंगे तबतक तुम्हारा जीवन मानव मात्र के हृदय को पवित्र बनावेगा और मैं, जबतक,

तुम पाताल में रहोगे तब तक इस वामन-रूप में तुम्हारे दरवाजे पर खड़ा रहूँगा, यही समझना। तुम पाताल के राजा और मैं तुम्हारा द्वारपाल। तुम नहीं जानते कि मैं तो तुम जैसे त्यागी जीवों की ही खोज करता फिरता हूँ। तुम जैसों के चरणों की रज से अपनेको भी पवित्र बनाता हूँ। तो बलि राज, अब मुझे छुट्टी दो।"

इतना कहकर वामन पहले के समान ठिंगने क़द के होगये और यज्ञ में बैठे शुक्राचार्य से बोले—"आचार्य! इस यज्ञ में कहीं न्यूनाधिक दोष रह गये हों तो उन्हें पूर्ण करो जिससे यज्ञ की समाप्ति हो।"

शुक्राचार्य ने उत्तर दिया—"प्रभो! यज्ञस्वरूप आप ही जहाँ उपस्थित हों वहाँ न्यूनाधिकता कहाँसे होगी? और हो भी तो वह मानी नहीं जायगी। यज्ञ तो आपका अर्चन है। आपने स्वयं पधार कर यजमान को कृतार्थ किया। इसलिए यज्ञ तो पूर्ण हो ही गया। भगवन्, हम आपको पहचान नहीं सके इसलिए क्षमा कीजिएगा।"

यह कहकर शुक्राचार्य तथा अन्य भृगुओं ने खड़े होकर वामन भगवान को प्रणाम किया। सबको आशीर्वाद देकर वामन यज्ञभूमि से विदा हुए और बलि राजा दानवों के सहित पाताल में निवास करने लगा।